विक्रमार्क

THE VIKRAMARKA

शोध-पत्रिका

Research Journal

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

विक्रमार्क
THE VIKRAMARKA

शोध-पत्रिका

Research Journal

सितंबर 2023-फरवरी 2024, अंक-7
भाद्रपद - माघ (विक्रम संवत् 2080)

संपादक
श्रीराम तिवारी

सह-संपादक
राजेश्वर त्रिवेदी

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन

विक्रमार्क
THE VIKRAMARKA

शोध-पत्रिका
Research Journal

नियामक: शिव शेखर शुक्ला, प्रमुख सचिव, संस्कृति, मध्यप्रदेश शासन

सितंबर 2023-फरवरी 2024, अंक-7
भाद्रपद - माघ (विक्रम संवत् 2080)

संपादक: श्रीराम तिवारी
सह-संपादक : राजेश्वर त्रिवेदी
समन्वय सहयोग : रितेश वर्मा, राजकुमार सिंह, खुमेंद्र कावड़े

मूल्य:40 /- रूपये

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन का अधिष्ठान है। शोधपीठ विक्रमादित्य, उनके युग तथा भारत विद्या पर गंभीर शोध, अनुसंधान, फैलोशिप और अध्ययन के लिए समर्पित है।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं, जिनका यथासंभव तथ्यात्मक सत्यापन किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रकाशक किसी भी रूप में उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशक :
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय,
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन
1 उदयन मार्ग, उज्जैन- 456010

दूरभाष/ फैक्स : 0734-2521499

ईमेल : Email- vikramadityashodhpeeth@gmail.com/mvspujjain@gmail.com

वेब : www.mvspujjain.com

मुद्रण : मध्यप्रदेश माध्यम
ISSN 2348-7720

सम्पादकीय

भारत ने दर्शन, भाषा विज्ञान, अनुष्ठान, व्याकरण, खगोल विज्ञान, अर्थशास्त्र, सांख्य सिद्धांत, तर्क, जीवन विज्ञान, आयुर्वेद, ज्योतिष एवं संगीत जैसे विभिन्न मानव कल्याणकारी क्षेत्रों में कीर्तिमान स्थापित करके मानव जाति की उन्नति में अत्यधिक योगदान दिया है। ज्ञान परंपरा का भारत में हमेशा से ही सर्वोच्च स्थान रहा है। भारत ने ज्ञान के महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में संपूर्ण विश्व का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। पाणिनि, पतंजलि, कौटिल्य, वात्स्यायन, भरतमुनि, चरक, सुश्रुत, आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि अनेक विद्वानों ने इस परंपरा को सुदृढ़ बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन समय की ज्ञान, परंपराएँ और प्रथाएँ मानवता को प्रोत्साहित करती रही हैं। पुराण में ज्ञान को अप्रतिम माना गया है। भारत के तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, उज्जयिनी, काशी आदि विश्व प्रसिद्ध शिक्षा एवं शोध के प्रमुख केन्द्र रहे तथा यहाँ कई देशों के शिक्षार्थी ज्ञानार्जन के लिए आते रहे। भारतीय इतिहास में उज्जयिनी के महान् प्रतापी अक्षुण्ण कीर्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य का स्थान अद्वितीय है। उनके द्वारा चलाये गये विक्रम नामक संवत्सर शताब्दियों से सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त एवं मान्य है। विक्रमादित्य की कथाएँ भारत के कोने-कोने के जन-मानस में कथा-कहानियों के माध्यम से आज भी प्रसिद्ध हैं। विक्रमादित्य की कथाओं और संवत्सर की अधिक प्रसिद्धि है। विक्रमादित्यकालीन ज्ञान परंपरा और उसकी विशेषताओं के कारण भारत वर्ष के विकास में एकरूपता, दिखाई देती थी। इस काल की ज्ञान परंपरा और शिक्षा ने भारत का पथ प्रदर्शन किया। सम्राट विक्रमादित्य के सभासद वराहमिहिर उज्जयिनी से ही कालगणना करते थे। सम्राट विक्रमादित्य के काल की एक संस्कृति थी जिसके मूल में भौगोलिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक व कला संबंधी एकता का सूत्र गूँथा हुआ था। विक्रमादित्य भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव के प्रतीक है। वे अपने औदार्य, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा, अलौकिक प्रतिभा एवं दिग्विजय के कारण सर्वश्रुत थे। वे प्रत्येक बात में इतने अद्वितीय थे कि उनकी उपमा संभवतः किसी को नहीं दी जा सकती। उनकी शालीनता, मनुष्यता, वाग्मिता, बुद्धिमत्ता विविध और विभिन्न अनन्त विचित्रताओं के गीत आज भी घर-घर सुनने को मिलते हैं। सारांश यह है कि वे माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों ही प्रकार की गुण-राशि के अप्रतिम उदाहरण थे।

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ की अर्धवार्षिक शोध पत्रिका **विक्रमार्क** का यह अंक प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा और अन्वेषण पर केंद्रित है। द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति व धार्मिक प्रभाव अपने कितने वृहद रूप में मौजूद रहा है इसके प्रमाण आज भी यहाँ मिलते हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक बातों को उल्लेखित करता हुआ देवेंद्रनाथ ठाकुर का लेख द्वीपान्तर के संस्कृत शिलालेख पूर्वी एशिया के अनेक देशों में प्राप्त हुए शिलालेखों में भारतीय संस्कृतिक के व्यापक प्रसार को बहुत ही विस्तृत ढंग से दर्शाता है। सदियों भारतीय वास्तु ज्ञान समस्त विश्व को अपने होने से चमत्कृत करता रहा है। इस अंक में प्रकाशित डॉ. देशबंधु का

लेख वास्तुशास्त्र और नगर विन्यास में जल प्रबंधन हमारी प्राचीन भारतीय वास्तु व विज्ञान परंपरा में पर विस्तार से प्रकाश डालता है। इसमें लेखक ने वेदों के माध्यम से बहुत सारे संदर्भों का उल्लेख किया है, जिससे वास्तु विज्ञान की दिशा निर्धारित हुई। डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू का शोधपूर्ण लेख भारत में ग्राम व नगर निवेश की परम्परा पर केंद्रित है। जिससे ज्ञात होता है कि मानवीय सभ्यता में बस्तियों का विकास मानव के निर्भीक होने, समूह में घर बनाकर रहने और परस्पर विश्वास की एक अहम देन है। प्राचीन बस्तियों में यदि हमें मानवीय आवास, उल्लास जैसी गतिविधियों के लिए आवश्यक संसाधन, शक्तियों के उपासना के केन्द्र, खेती-बाड़ी, वस्तुओं के लिए भण्डार गृह, जलादि के स्रोत, कला और वस्तुओं के विपणन के लिए बाजार जैसी रचनाएँ मिलती हैं तो उनके मूल में हमें यह मानना चाहिए कि बस्तियों का विकास सबके लिए निर्भय निरापद और संसाधनों एवं सुविधाओं की उपलब्धता को ध्यान में रखकर किया जाने लगा। भारतीय ज्योतिष के क्षेत्र में वराहमिहिर का योगदान सर्वज्ञात है उनके रचे ग्रंथ दुनिया भर में बेहद प्रामाणिक माने जाते हैं। प्रख्यात विद्वान डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित ने विक्रमादित्य और वराहमिहिर के तिथि निर्णय पर एक प्रामाणिक लेख प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त विक्रमार्क के इस अंक में वैदिक कालगणना तथा लोक में व्याप्त सम्राट विक्रमादित्य की गाथाओं पर भी विस्तृत आलेख हैं। सभी सुधी पाठक जन, शोधार्थियों तथा इतिहास व प्राचीन परंपरा में रुचि रखने वाले लोगों के सम्मुख विक्रमार्क का यह अंक खरा उतरेगा।

श्रीराम तिवारी
निदेशक
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

क्रम

द्वीपांतर के संस्कृत शिलालेख / 7
देवेंद्र नाथ ठाकुर
विक्रमादित्य और वराहमिहिर का तिथि निर्णय / 15
डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित
वैदिककाल गणना और विक्रम सम्वत् /19
डॉ. अभिमन्यु
सम्वत् प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य / 25
पं.भागीरथ जोशी
साहित्य एवं अनुश्रुतियों में भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य / 29
डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी एवं अनिमेष नागर
भर्तृहरि और उनका मुक्तक काव्य / 35
ईशान अवस्थी
लोक गाथाओं के सरताज महाराजा विक्रमादित्य / 41
डॉ. पूरन सहगल
भारत में ग्राम व नगर निवेश की परम्परा / 49
डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू
वास्तुशास्त्र और नगर विन्यास में जलप्रबन्धन / 65
डॉ.देशबन्धु
संस्कृत साहित्य में नगर नियोजन / 75
डॉ. सुजाता शाण्डिल्य
लेखन सामग्री और प्राचीन भारत / 79
मनीष रत्नपारखी
उज्जयिनी से अयोध्या तक विक्रमादित्य की गौरवशाली परंपरा / 85
रितु मिश्र
गाथा विदूषी विद्योत्तमा की / 87
मिथिलेश यादव

द्वीपांतर के संस्कृत शिलालेख

• देवेंद्र नाथ ठाकुर

यत्नवतो यवद्वीप सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीप सुवर्णाकरमंडितम्।।
यव द्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति श्रृंगेण देवदानवसेवितः।।

वाल्मीकि रामायण के किष्किंधा कांड में उल्लिखित विवरणों के अनुसार सुग्रीव ने सीता की खोज करने के लिए चारों दिशाओं में दूत भेजे थेऔर उन्हें यात्रा मार्ग के भी आवश्यक दिशा निर्देश दिये थे। इसी क्रम में उन्होंने पूर्व दिशा में जाने वाले दूतों को सात राज्यों से सुशोभित यव द्वीप (जावा), सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) तथा रूप्यक द्वीप में सीता को तलाशने के लिए कहा था। रामायण का यह प्रसंग 'दिग्वर्णन' के नाम से विख्यात है, जिसमें प्रकारांतर से संपूर्ण एशिया महादेश के समकालीन भूपरिदृश्य का चित्रण हुआ है। रामायण का 'दिग्वर्णन' बौद्ध ग्रंथ सद्धर्म स्मृत्युपाख्यान सूत्र में उद्धृत है। यह रचना पहली शताब्दी ईसवी की है। इसका छठी शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'सुमात्रा' का नामोल्लेख है, जिसकी तिथि निश्चित रूप से चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व है। 'यवद्वीप' निर्विवाद रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है, किंतु इसकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह कहना कठिन है। जावा द्वीप की एक किंवदंती से ज्ञात होता है कि इस द्वीप में भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रचार-प्रसार सर्वप्रथम त्रिश्रेष्ठ नामक ब्राह्मण द्वारा हुआ था, जो यहाँ अपने बहुत सारे अनुयायियों के साथ पधारे थे। त्रिश्रेष्ठ की तुलना विख्यात पौराणिक पुरुष 'अजि-शक' से की जाती है। अजि-शक का संबंध शक संवत के प्रवर्तक से है। लोक मान्यता के अनुसार अजि-शक अस्तिना (हस्तिनापुर) के पांडव सम्राट का प्रधानमंत्री था। जावा में उस समय 'रसस' (राक्षस) रहा करते थे। त्रिश्रेष्ठ ने वहाँ पहुँच कर उसका नाम सब द्वीप रखा, वहाँ के लोगों को सभ्य बनाया और उन्हें भारतीय वर्णमाला की शिक्षा दी। एक अन्य स्रोत के अनुसार अजि-शक गुजरात का निवासी था।' सिकंदरिया के खगोलशास्त्री टॉलेमी (Ptolemy) की रचना में जव-दीव (यव द्वीप) का उल्लेख हुआ है। यह रचना दूसरी शताब्दी के मध्य की है। इससे ज्ञात होता है कि इस द्वीप के संस्कृत नाम की जानकारी विदेशियों को भी थी। चीन के इतिहास में 132 ई. की एक घटना का उल्लेख है। ये-तिऔं (यव द्वीप) के राजा तिओ-पियेन (संभवतः देव वर्मन) का एक दूत चीन गया था। चीन के राजा

ने तियो-पिथेन को एक सुवर्ण मुद्रा और नीला फीता उपहार स्वरूप दिया था। सिल्वां लेवी द्वारा प्रस्तुत पालि ग्रंथ 'निदेस' के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवासियों को प्रथम शताब्दी ईसवी में सुदूर पूर्व के देशों का विस्तृत ज्ञान था। दक्षिण पूर्व एशिया में लाओस राज्य की स्थापना चौदहवीं शताब्दी के मध्य में हुई थी, किंतु लाओ साहित्य के अनुसार अशोक (273-236 ई. पू.) द्वारा कलिंग पर आक्रमण करने के बाद वहाँ के लोग असम-मणिपुर मार्ग से हिंद-चीन चले गये थे। लाओ निवासी अपने को उन्हीं का वंशज मानते हैं। रमेश चंद्र मजुमदार के अनुसार थाईलैंड और लाओस परिक्षेत्र में भारतीय संस्कृति का प्रवेश ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था। उस समय चीन के दक्षिणी भाग की उस घाटी का नाम गांधार था। रामायण के दिग्वर्णन को यदि हम दरकिनार भी कर दें, तो कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के विवरण से इन तथ्यों की प्रासंगिकता निश्चय ही सिद्ध होती है।

इंडोनेशियाई साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त होने वाले 'हो-लिंग', 'कलिन' अथवा 'क्लिन' शब्द का विकास संस्कृत के 'कलिंग' से हुआ है। सुदूर-पूर्व में हो-लिंग केवल उड़ीसा का ही प्रतीक नहीं है, प्रत्युत इसके अंतर्गत आंध्र प्रदेश का विस्तृत तटवर्ती क्षेत्र भी समाविष्ट है। 'क्लिन इंडोनेशिया का वह क्षेत्र था, जहाँ भारतीय अनिवासियों का वर्चस्व था। वर्तमान काल में भी इंडोनेशिया में भारतीय बहुल क्षेत्र को 'क्लिन' कहा जाता है। चीन के शांग कालीन इतिहास के अनुसार 'क्लिन जावा को कहा जाता था।'

मलय प्रायद्वीप में 'केलिन' का प्रयोग तमिलों के लिए होता है। और वहाँ तमिल और तेलुगू दोनों को केलिन भाषा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त तमिलों के परमपूज्य महर्षि अगस्त्य की मौजूदगी और पल्लव ग्रंथ लिपि में उत्कीर्ण वहाँ के प्राचीन संस्कृत शिलालेखों से भी इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में दक्षिण भारत की भागीदारी रेखांकित होती है। रिचर्ड विंस्टेड (Richard Winstedt) कहते हैं, 'मलय (जावा और बाली) आरंभ से अंत तक भारतीय सांस्कृतिक अवशेषों से आवृत हैं। फ्रांसीसी विद्वान शेडेस (Coedes) की मान्यता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी के आस-पास भारत के समुद्रतटीय सुदूरपूर्वी व्यापारिक कारोबार में इतना महत्वपूर्ण विकास हुआ कि दूसरी और तीसरी शताब्दी में इस क्षेत्र में भारतीय प्रभाव का स्पष्ट विस्तार दृष्टिगत होने लगा।' चीनी अभिलेखों के अनुसार कंबोडिया में फू-नान साम्राज्य की स्थापना प्रथम शताब्दी ईसवी में हो गयी थी। वहां से प्राप्त प्रथम संस्कृत शिलालेख की तिथि तीसरी शताब्दी ईसवी है और पुरातात्त्विक सामग्रियों की तिथि दूसरी शताब्दी के मध्य तक चली जाती है। चीनी स्रोत के अनुसार उसी काल में मलय प्रायद्वीप में भी हिंदुओं का एक छोटा राज्य था। मजुमदार की मान्यता है कि यदि भारत और कंबोज का संपर्क समुद्र मार्ग से हुआ था, तो उस मार्ग में पड़नेवाले द्वीप अवश्य ही उसके पूर्व हिंदुत्व के प्रभाव में आ गये होंगे।'

अधिकतर इतिहासकार दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव की तलाश में प्रथम शताब्दी के इर्द-गिर्द मंडराते हुए दृष्टिगत होते हैं, जबकि कंबोज में कौंडिन्य द्वारा भारतीय उपनिवेश की स्थापना निर्विवाद रूप से प्रथम शताब्दी में हो गयी थी। इस संदर्भ में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र के विवरण के अतिरिक्त यह उल्लेखनीय है कि सम्राट अशोक ने तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में शोण और भद्र नामक दूतों को बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु दक्षिण-पूर्व एशिया भेजा था। इस परिप्रेक्ष्य में एक अन्य तथ्य विचारणीय है। भारत के आदिवासी मूलतः दक्षिण-पूर्व एशिया के निवासी हैं। उन लोगों का संबंध मलय-पोलिनेशियन परिवार से है और उनकी भाषा मौन-खमेर समुदाय की है जो आग्नेय परिवार की भाषा है। वरिष्ठ इतिहासकारों को इस तथ्य की जानकारी है। यद्यपि उनके भारत आगमन की तिथि निर्धारित नहीं हो पायी है. किंतु रामकथा में उनकी भागीदारी को खारिज कर देना भी संभव प्रतीत नहीं होता। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रामायण का रचनाकाल चाहे जो भी हो, रामकथा निश्चय ही उत्तर-वैदिक काल की घटनाओं से संबद्ध है। इंडोनेशिया में संस्कृत शिलालेखों के अन्वेषण का इतिहास अत्यधिक रोचक और रोमांचक है। सबसे प्रथम जून 1879 में के. पी. होल ने 'बटेविया' विज्ञान कला परिषद' (Batavian Society of Arts and Sciences) के

अधिवेशन में सूचना दी कि बोर्नियों द्वीप के पूर्वी प्रदेश में कोताई के राज्य में एक बड़ा भारी शिलालेख मिला है। तदनुसार कोताई के स्थानिक (Assistant Resident) से पत्र व्यवहार किया गया। जिसके उत्तर में उसने लिखा कि मोरा कामन नामक स्थान में हिंदू काल के कुछ स्मारक शेष हैं। तत्पश्चात् कोताई के सुलतान ने संभवतःयूरोपीय अधिकारी के अनुरोध से चार शिलालेखों को 1880 ई. में ही जकार्ता नगर के संग्रहालय में भेज दिया। प्रोफेसर कर्ण ने उसी वर्ष उक्त शिलालेखों की प्रतिलिपि प्राप्त करके उनका अनुवाद किया। मोरा कामन एक छोटा-सा ग्राम है जो पूर्वी बोर्नियो के कोतई राज्य में 'महाकम' और 'कामन' नदियों के संगम पर बसा हुआ है। शिलालेख- में जो 'पुण्यतम क्षेत्रे वप्रकेश्वरे तीर्थ का नाम आया है, वह संभवतःयही पुण्य तीर्थ 'वप्रकेश्वर' है।' उपर्युक्त चारों शिलालेखों में सम्राट मूलवर्मन का नामोल्लेख है। इन्हीं शिलालेखों में से एक में मूलवर्मन के पिता अश्ववर्मन और पितामह 'कुडुंग' के नाम उत्कीर्ण हैं। प्रो.लोकेशचन्द्र का कहना है कि मूल वर्मन के पितामह का नाम नगेंद्र है और 'कुडुंग' दक्षिण पूर्व एशिया का चीनी नाम 'कुन-लुन' का विकसित रूप है। मूल वर्णन के तीन नये यूप शिलालेखों का अन्वेषण 1940 ई.में हुआ। भारतीय पुरातत्व विभाग के संयुक्त निदेशक डॉ. छाबड़ा के अनुसार एक शिलालेख में जलधेनु, घृतधेनु,कपिला आदि के दान का जिक्र है। दूसरे शिलालेख में दीपमाला के साथ तिलपर्वत के दान की चर्चा है। तीसरे शिलालेख में राजा के विजय अभियान और दीप स्तंभ की स्थापना का उल्लेख है। शिलालेख में उत्कीर्ण 'यूप' शब्द 'पशु बंधनार्थ याज्ञिक स्तंभ के अर्थ का वाची है। इस विचार को पुष्ट करनेवाले 'यष्ट्वा' और 'यज्ञस्य' पद हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मूल वर्मन के सातों शिलालेख जिन स्तंभों पर उत्कीर्ण हैं उन्हें 'यूप' कहा गया है। इन शिलालेखों की तिथि 400 ई. निर्धारित की गयी है, किंतु मूलवर्मन के पिता और पितामह के नामोल्लेख से बोर्नियो में हिंदू राज्य की स्थापना की तिथि कम से कम 50 वर्ष पीछे अवश्य चली जाती बोर्नियो के शिलालेख इंडोनेशियाई द्वीपसमूह के अंतर्गत चौथी शताब्दी में हिंदू राज्य की विद्यमानता के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। सम्राट मूलवर्मन के संबंध में इस तथ्य को रेखांकित किया जा सकता है कि वह इंडोनेशियाई द्वीप समूह का प्रथम अभिलिखित सर्वशक्ति सम्पन्न सम्राट है जिसने सुव्यवस्थित साम्राज्य की स्थापना की, शक्तिशाली सेना का संगठन किया, जल संसाधन की व्यवस्था की, लोगों को समृद्ध बनाया, अश्वमेध यज्ञ करवाया, विप्रों को जीवन निर्वाह हेतु भूमि, वृक्ष और पशु दिया, विद्वान ब्राह्मणों को बहुमूल्य दक्षिणा दी तथा बहुराष्ट्रीय समुदाय को आकर्षित करने के लिए राजधानी में दीप स्तंभ की स्थापना की और अपने राजवंशीय प्रताप की छाप छोड़ गया, दक्षिण पूर्व एशिया के चीनी नाम, 'कुन-लुन' की याद में 'कुंडुंग'।'

बोर्नियो के यूप शिलालेख में मूलवर्मन की प्रशस्ति एक स्थलपर इस प्रकार उत्कीर्ण है, 'जयति बलः श्रीमान् मूलवर्मन नृपतिः…..। सी. शिवराज मूर्ति इस उक्ति की तुलना रामायण के निम्नांकित श्लोक से करते हैं।

जयति बलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।

राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः।।

तात्पर्य है कि शिलालेख में उत्कीर्ण उपर्युक्त पंक्ति आदिकवि की उक्ति से प्रभावित है। बोर्नियो के एक अत्यधिक क्षतिग्रस्त शिलालेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें मूलवर्मन की तुलना सगरकुल

समुत्पन्न राजा भगीरथ से की गयी है।

सगरस्य यथा राज्ञः समुत्पन्नो भगीरथः।

……मूलवर्मन……..

मूलवर्मन के शिलालेखों से इंडोनेशियाई द्वीपसमूह में ईसा की आरंभिक शताब्दियों में वैदिक संस्कृति, संस्कृत भाषा तथा साहित्य और दक्षिण भारत की पल्लव ग्रंथ लिपि की विद्यमानता के प्रबल प्रमाण जावा द्वीप का प्राचीनतम् संस्कृत

शिलालेख पूर्णवर्मन का है, जो तरूमा का राजा था। तरूमा पश्चिमी जावा में जकार्ता के निकट था। वहाँ से संस्कृत के चार शिलालेख मिले हैं, जिनमें से तीन में पूर्णवर्मन के नाम अंकित हैं। ये पल्लव लिपि में उत्कीर्ण हैं, किंतु इनमें मौलिक अंतर दृष्टिगत होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये कुछ कोताई के शिलालेख से कुछ बाद का है।' इसकी तिथि पाँचवी शताब्दी अनुमानित है।

मूलवर्मन की तरह पूर्णवर्मन के शिलालेखों में कोई वंशावली उपलब्ध नहीं है, किंतु उसकी उपाधि की तरह इसकी भी उपाधि वर्मन है। इससे स्पष्ट होता है कि दोनों क्षत्रिय थे। इनमें से दो शिलालेखों पर पूर्ण वर्मन के चरण चिन्ह अंकित हैं जिनकी तुलना विष्णु के पद चिन्हों से की गयी है और एक पर राजा के हाथी के पाँव का निशान है। इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वह वैष्णव था। इन शिलालेखों में से एक में चंद्रभागा तथा गोमती नामक नहरों के निर्माण का उल्लेख है। चंद्रभागा और गोमती उत्तर भारत की नदियों के नाम हैं। चंद्रभागा पंजाब और गोमती उत्तर प्रदेश में वर्तमान काल में भी प्रवाहमान हैं। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पूर्णवर्मन का संबंध किसी न किसी प्रकार उत्तर भारत से था। फाहियान संभवतः पूर्णवर्मन के राजत्वकाल में जावा पहुंचा था। उसके विवरण के अनुसार जावा में उस समय ब्राह्मणों की बहुलता थी, किंतु बौद्ध धर्मावलंबियों की संख्या नगण्य थी। जावा में कुछ दिनों तक ठहरने के बाद वह 413 ई. में कैटन रवाना हुआ था। वह जिस जलयान पर सवार था, उस पर 200 हिंदू व्यापारी थे। जावा में बौद्ध धर्म का प्रवर्तन संभवतः कश्मीर के राजकुमार गुणवर्मन द्वारा 423 ई. में हुआ था। जब वह कश्मीर से लंका होकर जावा पहुँचा, तब उसने सर्वप्रथम रानी माँ को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। राजा का धर्मांतरण बाद में हुआ। उसी समय जावानी राज्य पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ। बौद्ध धर्मावलंबी राजा ने गुणवर्मन से अपने राज्य से आक्रमणकारियों को मार भगाने के लिए बौद्ध शासक द्वारा अस्त्र धारण करने के औचित्य के संबंध में परामर्श माँगा। गुणवर्मन का उत्तर था कि प्रत्येक व्यक्ति को दस्युओं को दंड देने का अधिकार है। राजा ने इस उत्तर से उत्साहित होकर शत्रुओं का विनाश कर दिया।' कालांतर में संपूर्ण जावा में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ।

केदाह के कृषक वर्ग की लोक कथा 'मरोग महावंश' में ईसा की आरंभिक शताब्दियों में भारतवासियों के वहाँ आगमन की सूचना मिलती है। मलय प्रायद्वीप स्थित केदाह के निकट जंगलों से घिरी 'बुटिक चोरस' पहाड़ी की चोटी पर चौथी शताब्दी के एक स्तूप का अवशेष है। केदाह से एक संस्कृत शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें प्राचीन पल्लव लिपि में दो श्लोक उत्कीर्ण हैं। इनमें तथागत के धर्म की चर्चा हुई है। इस शिलालेख की तिथि पाँचवीं शताब्दी अनुमानित है। वेल्लेसली से प्राप्त एक अन्य शिलालेख में महानाविक बुद्धगुप्त के रक्त मृतिका निवास का उल्लेख है और इसमें उसके समुद्र यात्रा की सफलता हेतु प्रार्थना की गयी है। डॉ. वेल्स के उत्खनन से केदाह में 550 ई. से 750 ई. के अंतराल में निर्मित दस शिवमंदिरों का पता चला है।" मलेशिया स्थित केदाह के शिलालेखों की लिपि का तरूमा के शिलालेखों की लिपि से बहुत साम्य है। इन शिलालेखों की लिपि का जंबू शिलालेख से विशिष्ट संबंध ज्ञात होता है।' छठी शताब्दी के अंत में मध्य जावा का उत्थान और पश्चिमी जावा का पतन हो गया। शांग वंश के इतिहास में मध्य जावा के 'हो-लिंग का उल्लेख है और 637-49 ई. के मध्य हो-लिंग और बाली से वहाँ दूत के आगमन की सूचना मिलती है। 674 ई. में इस क्षेत्र की रानी सीमा थी। उसका प्रशासन सर्वाधिक श्रेष्ठ था। उसके राज्य में सड़क पर गिरी हुई चीज को लोग नहीं उठाते थे। एक अरब सरदार ने रानी को अर्पित करने के लिए एक थैली सोना भेजा। वह तीन वर्षों तक पड़ा रहा। लोग उस रास्ते से नहीं जाते थे। एक बार उस सोने के ऊपर एक राजकुमार का पैर पड़ गया। रानी इससे इतनी क्रुद्ध हो गयी कि उसने उसका वध करवा देना चाहा। अंत में जिस अंगूठे से सोने का स्पर्श हुआ था, उसे कटवा दिया गया। मध्य जावा का प्राचीनतम संस्कृत शिलालेख केदु के निकट 'तुकमस' (स्वर्ण निर्झर) नामक स्थल पर मिला था। जिस शिलापट पर यह अभिलेख उत्कीर्ण था, उस पर शंख, चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, कुठार आदि सोलह प्रतीक चिह्न थे। चार पंक्तियों के इस शिलालेख में कुछ शब्द मिट गये हैं। यह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण न भी हो, तो धार्मिक दृष्टि से अवश्य महनीय है, क्योंकि इसमें निर्झर की तुलना गंगा से

की गयी है।' मध्य जावा का एक अत्यधिक मनोहारी शैव शिलालेख जंगल अथवा चंगल नामक स्थल से उपलब्ध हुआ है। प्राचीन पल्लव ग्रंथलिपि में उत्कीर्ण इस शिलालेख में तिथि का विस्तृत उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार शक संवत् 654 (732 ई.) की समाप्ति के उपरांत कार्तिक शुक्ल पक्ष त्रयोदशी चंद्रवार भाद्रोत्तर (रेवती) नक्षत्र और स्थिरांग के रूप में विदित कुंभ लग्न में नरपति संजय ने शांति हेतु (शुभ) लक्षणों से युक्त (शिव) लिंग की स्थापना की थी। इस शिलालेख में सम्राट संजय द्वारा कुंजर कुंज नामक स्थल पर शिव मंदिर के निर्माण का स्पष्ट उल्लेख है। आदिकवि की उक्ति के अनुसार वैद्युत पर्वत के आगे नयनाभिराम और मनमोहक कुंजर नामक पर्वत है जिसके ऊपर विश्वकर्मा का बनाया हुआ महर्षि अगस्त्य का एक सुंदर भवन है :

तत्र नेत्र मनः कांता कुंजरो नाम पर्वतः।
अगस्त्य भवनं यत्र निर्मित विश्वकर्मणा।।

वृहत्संहिता में कुंजर स्थित अगस्त्य आश्रम को कच्छ और ताम्रपाणि के मध्य बताया गया है। क्रॉम इसे त्रावनकोर और तिन्नेवल्ली की सीमा पर स्थित मानते हैं। ऐसी मान्यता है कि दक्षिण भारत स्थित कुंजर कुंज के शिवालय के अनुरूप ही जावा के इस दिव्य स्थल पर लोकमंगलकारी भगवान शिव के मंदिर का निर्माण करवाया गया था। शिव और विष्णु की विमुग्धकारी स्तुति के बाद इसमें धन- धान्य एवं स्वर्ण भंडारों से परिपूर्ण जावा का भव्य वर्णन हुआ है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कंबुज (कम्बोडिया) नरेश भाव वर्मन के हान-चेई शिलालेख से इसका अद्भुत साम्य है। भाव वर्मन का राजत्व काल छठी शताब्दी का मध्यकाल है। इस शिलालेख में संजय के नामोल्लेख से पूर्व सन्न और सन्नहा का प्रयोग हुआ है। सत्यवती सुलेमान के अनुसार सन्न और सन्नहा भाई-बहन थे। संजय सन्न की बहन सन्नहा का पुत्र था।' पूर्वी जावा के दिनाया से प्राप्त एक अन्य शिलालेख शक संवत् 682 तदनुसार 760 ई. का है जिसमें गजयान द्वारा काले पत्थर से निर्मित महर्षि अगस्त्य की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख है। प्रो. लोकेशचन्द्र के अनुसार इंडोनेशिया की शैव और वज्रयान दोनों परंपराओं का संबंध दक्षिण भारत के श्री शैलम से है। तिब्बत के श्रीपर्वत, श्रीलंका के वज्र पर्वत और कोरिया के हीरक पर्वत का एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध हैं।

डॉ. बास्क की मान्यता है कि चंपा (वियतनाम), कंबोज (कंबोडिया) और जावा (इंडोनेशिया) में लिंग पूजा के तार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। कंबोज में देवराज (शैव) परंपरा का आरंभ जयवर्मन द्वितीय तथा ब्राह्मण हिरण्य दमन द्वारा किया गया था। चंपा में इस परंपरा का प्रणेता राजकुमार उरोज था। जावा में अगस्त्य पूजा इसी परंपरा की कड़ी है। डॉ. बास्क का कहना है कि तीनों परंपराओं का मूल स्रोत एक है। जिसका उल्लेख स्कंद पुराण के देवदारू माहात्म्य में हुआ है। मध्य जावा के दक्षिणी भाग में केदु नामक मैदान है। योग्याकार्टा नगर इसी मैदान में है जिसका वास्तविक अर्थ अयोध्या नगर है। केदु का मैदान प्राचीन भारतीय स्थापत्य एवं मूर्ति कलाओं का अद्भुत भंडार है। वरवुदुर (वरभूधर) और प्रम्बनान (परमब्रह्म) के पुरावशेष इसी मैदान में हैं। दोनों पुरावशेष भारतीय मूल के दो राजवंशों के उत्थान और पतन की कहानी कह रहे हैं जिनमें से एक का संबंध बौद्ध और दूसरे का संबंध वैष्णव अथवा शैव परंपरा से है। वरवुदुर के पिरामिड आकृतिवाले स्तूप का संबंध बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय से है। यह शिला-शिल्प का ऐसा अद्भुत संग्रहालय है कि इसे पत्थरों में रूपायित महाकाव्य कहा गया है। इसका निर्माण काल आठवीं शताब्दी है।

प्रम्बचाव के विशाल मंदिर परिसर को लोग चंडी सेबू के नाम से जानते हैं। यह ओपेक नदी के तट पर स्थित है। इस परिसर में दो सौ पैंतीस मंदिरों के अवशेष हैं। इसके वर्गाकार प्रांगण के मध्य भाग में उत्तर से दक्षिण पूर्वाभिमुख तीन मंदिर हैं। शिव मंदिर बीच में है। इसका मध्यवर्ती शिखर एक सौ चालीस फीट ऊँचा है। शिव मंदिर के उत्तर में ब्रह्मा तथा दक्षिण में विष्णु मंदिर हैं। शिव मंदिर में 42 तथा ब्रह्मा मंदिर में 30 रामायण शिलाचित्र हैं जिसमें संपूर्ण रामकथा रूपायित हुई है। विष्णु मंदिर में कृष्ण कथा के शिलाचित्र हैं। इन मंदिरों का निर्माण दक्ष नामक राजकुमार ने नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में करवाया था।" शैव शिलालेखों की

परंपरा में प्रम्बनान से 2 कि.मी. दक्षिण-पूर्व स्थित परंग नामक स्थल से प्राप्त संस्कृत में उत्कीर्ण अभिलेख भी उल्लेखनीय है। इस शिलालेख की तिथि शक संवत् 784-85 है। इसमें महर्षि अगस्य का कलशज नाम से उल्लेख हुआ है। इसके आरंभिक श्लोक में कहा गया है कि जिससे जगत उत्पन्न हुआ है, जिससे सब उत्पन्न होते हैं और जिसमें सब विलीन हो जाते हैं, ऐसे कल्याणकारी शिव आपको वे नमस्कार करते हैं :

यत् उत्पन्नं विश्वं यत्र च जातं विलीनपि यत्र।
तस्मै नमो भगवते शिवाय शिवकारण तुभ्यम्।।

मलय प्रायद्वीप में वियेंग-सा नामक स्थल है। यह वंडोन की खाड़ी के दक्षिण में है। यहाँ से प्राप्त शिलालेख की तिथि शक संवत् 697 तदनुसार 775 ई. है। इसका संबंध श्री विजय (सुमात्रा) के राजा से है जो उस समय मध्य जावा पर शासन करता था। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्री विजय के राजाओं का सुमात्रा के अतिरिक्त मलय प्रायद्वीप और द्वीपांतर (इंडोनेशियाई द्वीप समूह) के अनेक द्वीपों पर आधिपत्य था। अरब यात्रियों के विवरण के अनुसार कंबोज पर भी उनका वर्चस्व था। इस शिलालेख की अंतिम पंक्तियों में कहा गया है कि शक् संवत 697 चैत्र शुक्ल पक्ष एकादशी, शुक्रवार को कर्क लग्न में सूर्य के समान प्रकाशमान अन्य राजाओं से श्रेष्ठ देवेन्द्र सदृश लोक में देहधारी चिंतामणि श्री विजय के सम्राट ने यहाँ स्तूप की स्थापना की।

समृद्ध मंदिरों और धन-धान्य से परिपूर्ण शैलेंद्रों की महिमा मंडित राजधानी 'कलसन को संस्कृत ग्रंथों में कलशपुर कहा गया है। इसकी आरंभिक सूचना फा-सियेन द्वारा चीनी भाषा में अनूदित अष्ट महाचैत्य वंदन में है। पाँच श्लोकों वाले इस स्तोत्र का तीसरा श्लोक इस प्रकार है।

नेपाले कामरूपे कलशपुरे कांचीसौराष्ट्रराष्ट्र।
ये चान्ये धातुगर्भा दशबल वलिनस्तान्नमस्यामि मूर्धना।।

सोमदेव कृत 'कथा सरित सागर में साहसिक समुद्र यात्रा, पोत-विध्वंस और विलक्षण प्रदेशों की कथा है। इसकी तिथि 1063 और 1081 ई. के बीच है। यह रचना गुणाढ्यकृत 'वृहत्कथा' का अनुवाद है। जिसकी तिथि 600 ई. से भी पूर्व है। इसके अनुसार कलशपुर नगर सुवर्ण द्वीप में है और यह बहुमूल्य रत्नाभरण से प्रभासमान है। यह वर्णन समुद्रसूर की कथा के अंतर्गत है। समुद्रसूर सुवर्ण द्वीप की राजधानी कलशपुर जा रहा था। समुद्री तूफान में उसका पोत टूटकर बिखर गया। वह एक शव पर आरूढ़ होकर अनुकूल हवा के सहयोग से सुवर्ण द्वीप पहुँच गया। उस शव की कमर से बँधा हुआ एक बहुमूल्य रत्नजड़ित हार था। दुर्घटना के बाद उसे अपरिमित धन मिला और कालांतर में वह अपने नगर हर्षपुर लौट गया। कलसन शिलालेख मध्य जावा के प्रम्बनान के निकट एक मंदिर से प्राप्त हुआ है जिसकी तिथि शक संवत् 700 है। उत्तर भारत की पुरा- देवनागरी लिपि में आठवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य उत्कीर्ण इंडोनेशिया का यह प्रथम शिलालेख है। इस शिलालेख के अनुसार महाराज पंच पणकरण की सम्मति से शैलेंद्र राजा के समादरणीय गुरु ने देवी तारा के भव्य मंदिर का निर्माण करवाया था। शैलेंद्र राजवंश से संबद्ध केलुरक का बौद्ध शिलालेख भी प्रम्बनान के निकट से प्राप्त हुआ है जिसकी तिथि शक संवत् 704 है। इस शिलालेख का आरंभ त्रिरत्न की स्तुति से हुआ है। ईश्वर और लोकेश्वर की वंदना के उपरांत इसमें शैलेंद्र वंश के महान विजेताओं और गौड़ी द्वीप के धर्मगुरु की चर्चा है। इस शिलालेख में बंगाल के महायानी गुरु के जावा आगमन का उल्लेख है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जावा और सुमात्रा की महायान परंपरा का स्रोत बंगाल था। रातु-बक शिलालेख में भी शैलेंद्र की पुनः चर्चा हुई है। इसकी तिथि शक संवत् 714 है। इस शिलालेख का संबंध उदयगिरि विहार के निर्माण से है। यह विहार सिंहल के भिक्षुओं के लिए बनवाया गया था। इसमें एक स्थल पर 'धर्मतुंगदेव' का उल्लेख हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह राजा का नाम है। पाँच खंडों में विभक्त शिलालेख की विशिष्टता यह है कि यह द्विभाषीय है। इसकी आरंभिक 25 पंक्तियों में संस्कृत और शेष 26 पंक्तियों में प्राचीन जावानी भाषा का प्रयोग हुआ है। यहां यह उल्लेखनीय है कि आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्राप्त इंडोनेशिया के सामान्यतः सारे शिलालेख जावानी भाषा में उत्कीर्ण हैं, किंतु उनकी आरंभिक पंक्तियों में जिनमें मुख्य रूप से तिथि का उल्लेख है संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है।

करं-तेनह शिलालेख का संबंध वज्रयान के अनुयायी शैलेंद्रवंशी राजा समस्तुंग से है। इसमें कहा गया है कि समस्तुंग संपन्न और महान राजा है। उसकी प्रिय पुत्री प्रमोदवर्द्धिनी ने राज्य के इस गाँव में जिनालय का निर्माण करवाया है। यह शिलालेख काव्यात्मक सौंदर्य से परिपूर्ण है। इसमें प्रमोदवर्द्धिनी के सौंदर्य वर्णन के संदर्भ में कहा गया है कि उसकी कांति- चंद्रमा, गति- हंस, वाणी- कोकिल और आँखें-हिरण के समान हैं। प्रमोदवर्द्धिनी ने तारा की मूर्ति की स्थापना करवायी थी। यह शिलालेख उसी अवसर पर उत्कीर्ण हुआ था। तारा की मूर्ति के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा गया कि वह प्रतिमा पूर्ण चंद्रमा के समान प्रकाशमान है, मानो राहु के भय से चंद्रमा पृथ्वी पर गिर गया है। चंडी-प्लॉसन के संस्कृत शिलालेख का संबंध भी शैलेंद्र राजवंश से जोड़ा जाता है, यद्यपि इसमें शैलेंद्र शब्द का प्रयोग होता नहीं दीखता। इसकी तिथि नौवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित की गयी है। बास्क के अनुसार कलसन केलुरक, रातु-बक और प्लॉसन के शिलालेखों में अत्यधिक साम्य है। वास्तविकता यह है कि चारों बौद्ध शिलालेख हैं और चारों का संबंध शैलेंद्र राजाओं से है। अधिकतर विद्वान शैलेंद्र राजवंश का संबंध श्रीविजय (सुमात्रा) से स्थापित करते हैं, किंतु प्रो. लोकेशचंद्र इस विचार से सहमत नहीं है। उनके अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि शैलेंद्र मध्य जावा पर शासन करते थे और छठी शताब्दी के आस-पास वहाँ गये थे। वे वज्रयान के अनुयायी थे जिसका केंद्र श्री शैलम था जिसे श्रीपर्वत या वज्र पर्वत के नाम से भी जाना जाता है।' शैलेंद्र समृद्धि के शिखर पर थे जिससे वे सेवु, वरवुदुर, मेंदुत आदि कीर्तिस्तभों का निर्माण करने में समर्थ हुए। प्राचीन जावानी भाषा में उत्कीर्ण शक संवत् 876 के मिंटो शिलालेख के आरंभिक दो श्लोकों की रचना संस्कृत में हुई है। यह शिलालेख इस कारण महत्वपूर्ण है कि इसमें मध्य तथा पूर्वी जावा के राजा वावा का उल्लेख है। सम्पु-सिंदॉक राजा वावा का उत्तराधिकारी था। इस शिलालेख में उसे महापति कहा गया है। इस शिलालेख के संस्कृत श्लोक में मौलिकता नहीं है। वे श्रीहर्ष कृत 'नागानंद' और भवभूति कृत 'मालती माधव' में उपलब्ध हैं। इन श्लोकों में शिव के शिवत्व का उल्लेख हुआ है। शिव संपूर्ण जगत के प्राणियों के हित में रत हैं। वे दोष का नाश कर लोक को सुखी बनाते हैं। सुरवय के निकट पेनं-गुंगेन नामक स्थल से प्राप्त सम्राट ऐर्लंग के शिलालेख की तिथि शक संवत् 963 है। ऐर्लंग अपने मातृपक्ष के जावानी सम्राट श्रीईशान तुंग (सिंदोक) का उत्तराधिकारी था। उसकी माता का नाम महेंद्र दत्ता था। वह राजा मुकुट वंशवर्द्धन की पुत्री थी। मुकुटवंशवर्द्धन की माता ईशानतुंग की पुत्री थी। ऐर्लंग बाली द्वीप के सम्राट उदयन और सम्राज्ञी महेंद्र दत्ता का पुत्र और पूर्वी जावा के अधिपति श्रीधर्मवंश का दामाद था। सम्राट ऐर्लंग के इस शिलालेख में 34 श्लोक हैं। यह जावा का सबसे बड़ा संस्कृत शिलालेख है। इसके अंतिम श्लोक में माता और शिव की वंदना की गयी है। इसके अंतर्गत राजा के शौर्य, पराक्रम और उसके परिजनों का विस्तृत वर्णन हुआ है। ऐर्लंग के राजत्व काल की कई ऐतिहासिक घटनाओं का इसमें तिथि के साथ उल्लेख है। सुरवय के निकट से ही प्राप्त शक संवत् 1211 का ट्-सिंपन शिलालेख महाक्षोभ्य की प्रतिमा की आधार शिला पर उत्कीर्ण है। इसके आरंभ में तथागत की स्तुति के साथ पंडित श्रेष्ठ आर्य भराड की विशिष्टताओं का वर्णन हुआ है जिन्होंने युद्ध पर उतारू दो राजकुमारों के बीच कुंभ, वज्र और उदक द्वारा यव द्वीप का विभाजन किया था। सरकार कहते हैं कि 'बज्र' का अर्थ 'कुश भी होता है। उनका अनुमान है कि मुनि ने जल और कुश से तर्पण कर भूमि का विभाजन किया। 'परारतॉन' तथा 'नगरकृतागम' से ज्ञात होता है कि शक संवत 1144 में केन-अरॉक उर्फ राजस ने केदिरी (पश्चिम) को जीत कर इसे जंगल (पूर्व) में मिला दिया। इस प्रकार सिंगसरी राज्य की स्थापना हुई।' शिलालेख में कहा गया है कि कृतनगर के पिता जय विष्णुवर्धन 'जंगल' के राजा थे। उन्होंने जनहितार्थ दो खंडों में विभाजित राज्य को पुनः एक साथ कर दिया। राजा कृतनगर तंत्रशास्त्र के ज्ञाता थे। उन्होंने संभवतः जीवन काल में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था, क्योंकि जिस प्रतिमा की आधारशिला पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है, उसमें वे संन्यासी वेश में हैं। सुमात्रा द्वीप के पंडग-चंडी नामक स्थल से प्राप्त शिलालेख अमोघपाश की प्रतिमा के पृष्ठ भाग में उत्कीर्ण है। इसकी तिथि शक संवत् 1269 है। सम्राट आदित्य वर्मन के आदेश से आचार्य धर्मशेखर ने अमोघपाश की मूर्ति की स्थापना करवायी थी। यह शिलालेख उसी अवसर पर उत्कीर्ण हुआ था। इसमें आदित्य वर्मन के शौर्य, ज्ञान और वैभव का भव्य चित्रण हुआ है। इसके आरंभ में कहा गया है कि जिसका सधर्म और आत्मसम्मान संघर्षशील है, जो सौभाग्यवान, शीलवान और शास्त्रज्ञ है, जिसने गिरिकंदरा में अष्टांग योग के अभ्यास से शोभा, सौंदर्य और विशिष्ट वाणी प्राप्त की है और जिसने माया के अंधकार सदृश शत्रुओं को धिक्कारा है, उस आदित्यवर्मन का उदय महान है। बंगाल और मगध के पालवंशी सम्राट देवपालदेव और दक्षिण भारत के चोलवंशी नरेश राजराज के ताम्र अभिलेख भारत और इंडोनेशिया के राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंधों की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सुमात्रा के राजा बालपुत्र देव ने

नालंदा में एक महाविहार का निर्माण करवाया था। उसके अनुरोध पर देवपाल ने महाविहार के संपोषणार्थ पाँच ग्राम दान दिया था। यह ताम्र पत्र उसी दान का राज्यादेश है। नालंदा के पुरावशेष का आज भी अंतर्राष्ट्रीय महत्व है। इसी प्रकार चोल सम्राट राज राज ने कटाहाधिपति चूड़ामणि वर्मन के पुत्र विजयोतुंग वर्मन के अनुरोध पर अनैमंगलम ग्राम दान किया था। जहाँ उसने अपने पिता की स्मृति में चूड़ामणि विहार का निर्माण करवाया था। उत्तर और दक्षिण भारत के दोनों महाविहार भारतीय संस्कृति के गौरव ध्वज हैं। इंडोनेशिया के प्राचीनतम शिलालेख में पुरा-पल्लव लिपि का प्रयोग हुआ है। प्रो. बुहलर ने सर्वप्रथम दक्षिण भारत के पल्लव वंशी सम्राटों के संस्कृत अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि के लिए 'ग्रंथ' शब्द का प्रयोग किया है।" ग्रंथ लिपि का प्रयोग आधुनिक काल में भी संस्कृत की साहित्यिक कृतियों में हुआ है। प्रो. बुहलर ने ग्रंथ लिपि के विकास क्रम में आद्य (प्राचीन), मध्य और सांक्रांतिक अवस्थाओं की पहचान की है। पल्लव शासन के प्रारंभिक काल में उनके अभिलेख ताम्र-पत्रों में ही सिमट कर रह गये थे। नोगल (Vogel) के अनुसार उनका प्रथम शिलालेख सातवीं शताब्दी में दिखाई पड़ता है। दक्षिण भारत में कुछ प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हैं जिनमें से एक त्रिचानूर से प्राप्त हुआ है। जिसका संबंध विजय दंति विक्रमदेव से है। इससे बहुत कम सूचना मिलती है। योगीनूर से प्राप्त द्वितीय शिलालेख शक संवत 820 तदनुसार 898 ई. का है। कोरोमंडल क्षेत्र में बोर्नियो के शिलालेखों में प्राप्त पल्लव लिपि का समकालीन कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। बोर्नियो के शिलालेखों की लिपि की पहचान उनका श्रमसाध्य शिल्प और अलंकारिक स्वरूप है। यह आश्चर्य का विषय हैं कि दक्षिण भारत की पुरालिपि का आद्यरूप बोर्नियो से उपलब्ध हुआ है, जबकि अपनी मातृभूमि में उसका कोई अवशेष नहीं है। दक्षिण भारत के पुरालिपि विज्ञान के लिए। बोर्नियो के शिलालेखों की लिपि का ऐतिहासिक महत्व है। पश्चिमी जावा स्थित तरूमा के पूर्णवर्मन के शिलालेखों की लिपि तात्त्विक रूप से पूर्वी कलिमनतन (पूर्वी बोर्नियो) के शिलालेखों की लिपि के सदृश है, किंतु इनमें कुछ मौलिक अंतर है जिससे प्रतीत होता है कि यह कोतई से कुछ बाद की है। मलेशिया स्थित केदाह के कुछ शिलालेखों की लिपि तरूमा के सदृश है। इसकी लिपि का जंबू शिलालेख से विशिष्ट संबंध ज्ञात होता है। जंबू पश्चिमी जावा में है। कोतई के मूलवर्मन, पश्चिमी जावा के पूर्णवर्मन और मलय प्रायद्वीप के केदाह के शिलालेखों की लिपि में अत्यधिक साम्य है, किंतु उनके सूक्ष्म अंतर के आधार पर उनकी तिथियों की पूर्वापरता का निर्धारण किया गया है। तुकमस शिलालेख परवर्ती पल्लव लिपि का उदाहरण है जिसका प्राचीन पल्लव लिपि से स्पष्ट संबंध ज्ञात होता है। श्रीविजय के आरंभिक शिलालेख दक्षिणी सुमात्रा के पलेंगवांग तथा बका द्वीप से प्राप्त हुए हैं। इनकी तिथि 683, 684 और 686 ई. है। इनकी लिपि पूर्णरूप से परवर्ती पल्लव है।' चंगल शिलालेख पल्लव लिपि में उत्कीर्ण इंडोनेशिया का अंतिम ज्ञात शिलालेख है। यह जावा का प्राचीनतम शिलालेख है। इसकी लिपि का श्रीविजय के शिलालेख की लिपि से घनिष्ट संबंध है, फिर भी इनमें कुछ छोटे-मोटे अंतर हैं। आठवीं शताब्दी के आरंभ से द्वीपांतर के शिलालेखों में पुरा-देवनागरी लिपि का प्रयोग आरंभ हो जाता है। इंडोनेशिया के जिन शिलालेखों में पुरा देवनागरी लिपि का प्रयोग हुआ है, उनमें 'कलसन' का नाम अग्रगण्य है। इसकी तिथि शक संवत् 700 तद्नुसार 778 ई. है। प्रो. लोकेशचन्द्र के कथनानुसार इस शिलालेख में प्राकृ देवनागरी लिपि का प्रयोग हुआ है जिसे दमैस (Damais) ने 'सिद्धम कहा है। यह प्रयोग सूचित करता है कि शैलेंद्रों के राजगुरू पाल प्रभुत्व क्षेत्र के थे जिनके आगमन के अवसर पर यह शिलालेख उत्कीर्ण हुआ था। पालों का प्रभुत्व क्षेत्र उत्तर भारत का पूर्वांचल था जहां से प्राक- देवनागरी लिपि इंडोनेशिया पहुँची थी। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इंडोनेशिया के सामान्यतः समस्त प्राचीन संस्कृत शिलालेख पल्लव लिपि में उत्कीर्ण हैं। दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ अन्य देशों में भी उस काल के संस्कृत शिलालेखों की भी यही स्थिति है। जावा का दिनाया शिलालेख यद्यपि संस्कृत में उत्कीर्ण है, किंतु इसकी लिपि 'कावी' अर्थात प्राचीन जावानी है। ऐसी मान्यता है कि इसका विकास पल्लव लिपि से हुआ है। इस लिपि को जावा में 'अक्षर-बुद (अक्षर-बुद्ध) कहा जाता है।' जावा के कलसन और केलुरक शिलालेख प्राक- देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण हैं। यह प्रवृत्ति उस काल के कंबोडिया के कुछ शिलालेखों में भी दृष्टिगत होती है। इसका कारण संभवतः दक्षिण पूर्व एशिया से बंगाल और बिहार के साथ संपर्क था जो उस समय बंगाल का ही अंग था। किंतु यह प्रवृत्ति अस्थायी है। इस प्रकार कलसन शिलालेख उत्तर और दक्षिण भारत का संगम स्थल प्रतीत होता है। ■

विक्रमादित्य और वराहमिहिर का तिथि निर्णय

• डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

ज्योतिर्विद वराहमिहिर की ज्योतिष के क्षेत्र में प्रसिद्धि सर्वज्ञात है। उनके रचे गई ग्रन्थ प्रकाशित हैं, जो रचे जाने के बाद से ही आज तक ज्योतिर्विदों के लिए प्रमाण माने जाते हैं। वे राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक थे। यह इस श्लोक से प्रमाणित होता है।

धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंह-शंकु - बेतालभट्ट-घटकर्पर कालिदासाः ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः समाया रत्नादि वै वररूचिर्नवविक्रमस्य ।।

राजा विक्रमादित्य की राजसभा में वराहमिहिर की उपस्थिति संबंधी ये श्लोक भी यहाँ अंकित हैं -

सत्यो वराहमिहिरो श्रुतसेन नामा श्री बादरायमणित्थ कुमारसिंहाः।

श्री विक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते श्रीकालतंत्रकवयस्तवपरे मदाद्या ।।

शंक्वादिपण्डितवराः कवयस्त्वनेके ज्योतिर्विदः समभवंश्च वराहपूर्वाः ।

श्री विक्रमार्कनृपसंसदि मान्यबुद्धि- स्तैरप्याहं नृपसखा किल कालिदासाः ।

वराहमिहिर ने अपने ग्रंथों में दो स्थानों पर वर्षों का उल्लेख किया है। बृहत्संहिता (13/3) के अनुसार युधिष्ठिर (कलि) संवत् 2526 में शक का काल है। प्राचीन ज्योतिष परम्परा संवत् और वर्ष शब्द के अर्थ में शक शब्द का उपयोग करती रही। युधिष्ठिर शक, विक्रमशक, शालिवाहन शक आदि। वराहमिहिर द्वारा उक्त यह शक संवत् प्राचीन है, जो वराहमिहिर के अनुसार युधिष्ठिर संवत् 2526-तदनुसार 575 ईसवी पूर्व में आरम्भ हुआ था।

आसन्मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिर नृपतौ।

षड्विकृपंचद्वियुतः शककालः तस्य राज्ञः।

वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका (1 /8) में 427 शककाल का उल्लेख किया गया है।

सप्तश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।

अर्धस्तिमिते भानौ यवनपुरे सोमदिवसाद्यः ।

विद्वानों में यह शक संवत् 78 ईसवी में प्रवर्तित वर्तमान प्रचलित शक संवत् मानकर (427+78=505 ई.) वराहमिहिर का जन्मकाल मान लिया है, जबकि इसे जन्मकाल मानने का कोई प्रमाण नहीं है। यदि इस शक 427 को बृहत्संहिता में उक्त युधिष्ठिर शकगणना मान लें तो यह (2526+427-2953 ई) होता है जो (3101-2953=148 ई.पू.) होता है।

ब्रह्मगुप्त के टीकाकार आमराज के अनुसार शक 509 में वराहमिहिर की मृत्यु हुई थी।वराहमिहिर द्वारा पूर्वोक्त निर्दिष्ट शक (2526 से प्रारम्भ) के अनुसार यह समय युधिष्ठिर या कलिसंवत् 3035 होता है जो (3105-3035) 66 ई. पू. होता है। कुतूहलमंजरी के अनुसार वराहमिहिर का जन्म चैत्रशुक्ल अष्टमी युधिष्ठिर संवत् 3042 में हुआ था।

स्वस्तिश्रीनृपसूर्यसूनुजशके याते द्विवेदाम्बरे

त्रैमानाब्दमिते त्वनेहसि जयेवर्ष वसन्तादिके।

चैत्रे श्वेतदले शुभे वसुतिथावादित्यदासादभूत्

वेदाङ्गेनिपुणो वराहमिहिरो विप्रो खेराशिभिः ।।

इससे यह स्पष्ट है कि सूर्य के आशीर्वाद से आदित्यदास का पुत्र वराहमिहिर युधिष्ठिर संवत् 3042 में जन्मा अर्थात् 3044 कलिसंवत् में आरंभ हुए विक्रम संवत् से 2 वर्ष पूर्व 59 ई.पू. में जन्म हुआ है। इस श्लोक में वराहमिहिर के जन्म का वर्ष, मास, तिथि आदि दिये गये हैं। जिन पर संदेह का कोई कारण नहीं है। पूर्वोक्त आमराज ने जो मृत्यु वर्ष शक 509 दिया है। वह प्राचीन शक गणना के अनुसार इस जन्म तिथि से पहले का है। 2526+509=3035 अर्थात् पूर्वोक्त 3042 में जन्म से 7 वर्ष पहले मृत्यु शक शालिवाहन गणना के अनुसार छठी सदी 587 ईसवी होता है, जिसका कोई तालमेल नहीं है, परन्तु इतिहासकार बाद की और विक्रम संबंधित न होने से तिथि को सही मानते हैं। यह आमराज का तिथि दोष प्रतीत होता है। यह तिथि विवरण आदित्यदास के पुत्र वराहमिहिर का है।

वराहमिहिर ने अपने वृहज्जातक में अपना परिचय देते हुए लिखा कि वह आदित्यदास का पुत्र और शिष्य था। कापित्थक में उसे सूर्य का वरदान प्राप्त हुआ था। वह आवंतिक (अवंति जनपद का निवासी) था। नाम था वराहमिहिर।

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सबितृलब्धपरप्रसादः।

आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्- घोरां वराहमिहिरो रूचिरां चकार ।

इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर और उसका परिवार उसके पिता के समय से कपित्थ ग्राम में निवास करता था। यह आवंतिक था अर्थात् अवन्ती क्षेत्र का था। कपित्थ ग्राम अवन्ती क्षेत्र में था। विद्वानों द्वारा इस कपित्थ ग्राम की पहचान वर्तमान कायथा ग्राम से की जाती है, जो अवन्ती (उज्जैन) से 20 कि.मी. पूर्व में मक्सी रोड पर छोटी कालीसिंध नदी के तट पर स्थित है।

प्रसिद्ध पुराविद् और मेरे गुरु पद्मश्री डॉ. वि. श्री वाकणकर में विक्रम विश्वविद्यालय की ओर से 1964-65 में इस प्राचीन बस्ती का उत्खनन कर यहाँ की प्रागैतिहासिक प्रायः दो से तीन हजार ईसवी पूर्व की सभ्यता की खोज की थी। यहाँ से प्राचीन सूर्य की प्रतिमा भी प्राप्त हुई थी। इस प्रकार यह ग्राम कायथा अत्यन्त प्राचीन स्थान है। जहाँ रहकर वराहमिहिर ने अपने पिता आदित्यदास से सूर्य की कृपा से ज्योतिष विद्या ग्रहण की थी। इस वराहमिहिर ने ज्योतिष के विभिन्न ग्रन्थ लिखकर इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की सभा में न केवल स्थान प्राप्त हुआ था, अपितु उसके आदरणीय नवरत्नों में भी एक रत्न के रूप में वह सम्माननीय था।

अब प्रश्न उठता है कि संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य के जीवनकाल की ज्ञात तिथियों से वराहमिहिर की पूर्वोक्त ज्ञात तिथि की समकालीनता है या नहीं। विक्रमादित्य के तिथि संबंधी उल्लेख स्कंदपुराण, भविष्यपुराण और जैन पट्टावली में तथा कालककथा में प्राप्त होते हैं। भविष्यपुराण (प्रथम खण्ड सप्तम अध्याय) के अनुसार तीन हजार कलि वर्ष (3000) कलिवर्ष में शिवजी की आज्ञा से विक्रमादित्य का जन्म हुआ। उसने 100 वर्ष तक निष्कण्टक राज्य का उपभोग किया। तब वह दिवंगत हुआ। वह 5 वर्ष की अवस्था में तपस्या करने लगा और 12 वर्ष तक तपस्या की तब राज्य प्राप्त किया। अर्थात् 17 वर्ष की अवस्था में राज्य प्राप्त किया और 100 वर्ष राज्य किया अर्थात् 117 वर्ष उसका जीवन काल रहा, परन्तु स्कन्द पुराण के अनुसार 3020 कलि संवत् में विक्रमादित्य का राज्य आरंभ हुआ था। अर्थात् 20 वर्ष की आयु में राज्यासीन हुआ। दोनों पुराणों के अनुसार यह क्रम इस प्रकार बनता है। कलि 3000 में जन्म (ई.पू. 101). कलि 3017 या 3020 में राज्य प्राप्ति (ई.पू.84 या 81). 100 वर्ष राज्य। अतः कलि 3117 या 3120 में देहावसान। (ईसवी 16 या 19) अर्थात् विक्रमादित्य की आयु 117 या 120 वर्ष की रही। स्कन्द पुराण के अनुसार 3020 में राज्य प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख है। अतः उसे ही मानना अधिक उचित है। ऐसी अवस्था में विक्रमादित्य की आयु 120 वर्ष की होती है, जो विंशोत्तरी जन्मपत्रिका के अनुसार पूर्णायु है, क्योंकि जन्मपत्रिका 120 वर्ष की बनती है। भविष्य पुराण के अनुसार विक्रमादित्य ने अश्वमेध यज्ञ किया था।

वाजिमेधं च नृपतेः कारयामस्तवदाज्ञया। (भविष्यपुराण, भाग-2 पृ.419)

जैन परम्परानुसार शक वंश को नष्ट कर विक्रमादित्य सार्वभौम राजा हो गया तब पृथ्वी को ऋणमुक्त कर अपना संवत् चलाया। यही संवत् कभी कृत, कभी मालव नाम से भी पुकारा गया, जो आज तक विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध है और नेपाल का राष्ट्रीय संवत् है। यह उल्लेखनीय है कि उज्जैन के पास के गाँव चकरावदा के एक मूर्तिलेख पर विक्रम संवत् 8 ईसवी पूर्व की ब्राह्मी में अंकित है। यह मूर्तिलेख कुछ माह पूर्व ही प्राप्त हुआ है और अभी अप्रकाशित है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ से ही यह विक्रम संवत् के नाम से पुकारा जाता था। इस स्थिति में वराहमिहिर विक्रम संवत् के आरंभ (3044 कलि) से 2 वर्ष पूर्व (3042 कलि) में जन्मे। जब वराहमिहिर जन्मे उस समय विक्रमादित्य की आयु 42 वर्ष थी। अर्थात् उस समय वराहमिहिर के पिता आदित्यदास विक्रमादित्य के समकालीन थे और विक्रमादित्य वराहमिहिर के पिता तुल्य आयु के थे। विक्रमादित्य 3120 कलि जीवनकाल में वराहमिहिर का (19 ईसवी) या विक्रम संवत् 76 तक जीवित रहे। अतः विक्रमादित्य उनसे (59 ईसवी पूर्व से 19 ई. तक) प्रायः 78 वर्ष का सान्निध्य रहा। इसी प्रकार दीर्घ जीवन का प्रमाण इससे भी बताता है। इससे प्रतीत होता है कि वराहमिहिर का पुत्र षष्ठीदत्त भी विक्रमादित्य के समकालीन था। विक्रमादित्य के दीर्घ जीवन में वराहमिहिर, उनके पिता और पुत्र अर्थात् तीन पीढ़ियाँ ज्योतिष में सक्रिय रही। ■

विक्रमादित्य संबंधी सन्दर्भ-

(क) पूर्णे त्रिंशच्छते वर्षे कालौ प्राप्ते भयंकरे।
शकानां च विनाशार्थमत्यर्थधर्मविवृद्धये। (कलि संवत् 3000 जन्म)
जातश्शिवाज्ञया सोपि कैलासाद् गुह्यकालतः।
विक्रमादित्यनामानं पिता कृत्वामुमोद ह।। (भविष्यपुराण)

(ख) ततस्त्रिषु सहस्त्रेषु विंशत्या चाधिकेषु च।
भविष्यं विक्रमादित्यराज्यं सोथ प्रलप्स्यते।। (स्कन्दपुराण 3020 राज्य प्राप्ति)

(ग) विक्रमादित्य एवास्या भुक्त्वा राज्यमकण्टकम्। (राज्यवर्ष 100)
शतवर्ष मुदा युक्तो जगाम मरणे दिवम्।। (भविष्यपुराण, मृत्यु 3120)

(घ) शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्री विक्रमादित्य : सार्वभौमोपमोभवत्।। (विक्रमा संवत् प्रवर्तन)
स चोन्नत महासिद्धिः सौवर्णपुरूषोदयात्।
मेदिनीमनृणी कृत्वाऽचीकरद् वत्सर निजम्। (कालकसूरिचरितम्)

वैदिककाल गणना और विक्रम सम्वत्

• डॉ. अभिमन्यु

यजुर्वेद में एक मन्त्र इस प्रकार प्राप्त होता है-

कोऽस्य वेद भुवनस्य नाभि को द्यावापृथिवीऽन्तरिक्षम्।

कः सूर्यस्य वेद वृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ 28॥

अर्थात् कौन इस विश्व मण्डल की नाभि को जानता है ?

कौन पृथ्वी और अन्तरिक्ष को जानता है? इस वृहदाकार सूर्य के जन्म को कौन जानता है? कौन जानता है कि चन्द्रमा कहाँ से उत्पन्न हुआ?

यह ऐसे प्रश्न हैं, जो कौतूहल के समान हमारे सम्मुख उत्पन्न हुए और इन प्रश्नों के समाधान के प्रयास ने आज की विश्व ज्योतिष का विकास किया। इस खगोलीय ज्योतिष का आरम्भ सूर्य, चन्द्र पृथ्वी, नक्षत्र, ग्रह और उपग्रह की गति परिज्ञान होता है। गति परिज्ञान के लिए देश और काल दोनों की मापों का प्रयोग आवश्यक है। इस कौतूहल के परिणाम स्वरूप मानव जाति ने संवत्सर और ऋतुओं के साथ दिन-रात के चक्र को समझना आरम्भ किया। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद का यह मन्त्र भी दृष्टव्य है-

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि I
उपसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते
कल्पन्तामार्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्तां संवत्सरस्ते कल्पताम् ॥ 29 ॥

इस मन्त्र में काल-मानसूचक शब्द है संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर, उषा, अहोरात्र, अर्धमास (पक्ष), मास और ऋतु। चन्द्र और सौर बरसों का समन्वय पाँच वर्षों के एक चक्र में होता है। इन पाँच वर्षों का नाम संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदत्सर औरवत्सरहे। भारतीय ज्योतिष की एकमात्र विशेषता रही है कि, चन्द्र और सौर दोनों गतियों का जहाँ तक

सम्भव हो समन्वय किया जाता रहे। इस समन्वय को यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र से प्रेरणा मिलती है। चान्द्रगति ने अहोरात्र,अर्धमास (पक्ष) और मास को जन्म दिया तथा सौर गति ने ऋतु और बत्सरों को। स्वामी सत्यप्रकाश जी का मानना है कि, दिनों को सप्ताहों में विभाजन करना इस देश की पुरानी परम्परा नहीं है। सप्ताह के रूप में विभाजन करना ज्योतिष के किसी वेध के आधार पर नहीं हो सकता। सम्भव है बाइबल के सृष्टि क्रम में सात दिनों को जो महत्व मिला है और जिसके आधार पर "सैवेध" की कल्पना की गई है, उससे सम्बन्ध रहा हो। मास साधारणतः तीस दिन का होता है और तीस के गुणनखण्ड 15,6,5,10,3,2 के आधार पर याज्ञिक कृत्यों का आरम्भ हुआ है। यह, षडह, द्वादशाह आदि कृत्य तो बने पर सप्ताह सदृश किसी कृत्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। कालचक्र कल्पना की प्रेरणा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से मिलती है। रथचक्र के समान कालचक्र भी है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त की यह ऋचा-
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
आ पुत्रे अग्रे मिथुनासोऽत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।

द्यौलोक में घूमने वाले इस कालचक्र में कभी ना क्षीण होने वाले 12 आरे लगे हुए हैं।

(12 आरा- 12 राशियाँ 32 या 12मास) । इसमें मिथुन भाव से अर्थात् दोनों के जोड़े में 720 पुत्र स्थित है - (360 दिन + 360 रात =720 दिन-रात) ।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिंदिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ।। 33 ।।

जब सूर्य दूसरे गोलार्ध में होता है, तब कुछ लोग उसे 'पुरीषिण' कहते हैं। इसके पाँच पाद होते हैं और 12 आकृतियों वाला यह पितर है। जब यह इस ओर के गोलार्ध में होता है और सात चक्र वाली गाड़ी में जिसमें 66 आरे होते हैं, तब इसे 'अर्पित' कहते हैं। (ये दो गोलार्ध उत्तरायण और दक्षिणायन है। सात चक्र सूर्य की सात रश्मियाँ है। छः आरा छह ऋतुँ है। पञ्चपाद भी पाँच ऋतुएँ हैं, यदि शरद् हेमन्त को अथवा हेमन्त और शिशिर को मिलाकर एक ऋतु मान ली जाये) ।

सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्धंयत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।। 34 ।।

इस एक चक्र वाले रथ में सात अश्व जुटे हुए हैं। वस्तुतः है तो एक ही अश्व पर उसके सात नाम है। इस चक्र में तीन नाभियाँ है। यह चक्र न तो कभी जीर्ण होता है और न ढीला पड़ता है और इसमें समस्त भुवन स्थित है (तीननाभियाँ-दिन की तीन सन्ध्यायें अथवा तीन मुख्य ऋतु- जाड़ा, गर्मी, बरसात अथवा भूत, भविष्य, वर्तमान यह तीन काल । एक चक्र का रथ - एकवर्ष या सौरमण्डल, सातअश्व- सात प्रकार की किरणें)।

द्वादशप्रधयश्चक्रमेकंत्रीणिनभ्यानिक उतच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता नशङ्कवोऽर्पिताषष्टिर्न चलाचलासः॥ 35 ।।

इस चक्र में बारह- प्रधय हैं।चक्र एक है। तीन नाभियाँ हैं, पर कौन कह सकता है इसमें 360 शंकु हैं, जो चल भी हैं और अचल भी। (12 प्रधय - 12 राशियाँ, एक चक्र एक वर्ष, तीन नाभियाँ - तीन ऋतुएँ और 360 शंकु 360 दिन हैं) वैदिक ग्रन्थों में वसन्त ऋतु से संवत्सर (कालगणना) का आरम्भ होता है, ऐसा उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है -

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू ग्रैष्मावृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारदावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू।। 36।।

यहाँ स्पष्ट रूप से वसन्त आदि छह ऋतुओं का वर्णन है और प्रत्येक दो - दो मासों में विभाजित है, जिससे स्पष्ट होता है - संवत्सर का प्रारम्भ वसन्त ऋतु या मधुमास से होता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि- सृष्टि के आदि में प्रादुर्भाव वेदों में ही बारहमास और छह ऋतुओं का वर्णन है। पाश्चात्यों के समान १० मासों से १२मास का विकास नहीं हुआ। वैदिक काल के मधु, माधव आदि जो मासों के नाम हैं, वे कालान्तर में नक्षत्रों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इन नाक्षत्रिक नामों के सन्दर्भ में महर्षि पाणिनि का यह सूत्र भी प्रमाण है- सास्मिन् पौर्णमासीति - सास्मिन् पौर्णमासीति (अष्टा. 4/2/20) सा इति प्रथमा समर्थात्आस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत् तत् प्रथमा समर्थ पौर्णमासी चेद् भवति। इतिकरणः ततश्चेद्विवक्षा भवति। संज्ञायां इति समुदायोपाधिः, प्रत्ययान्तेन चेत्सञ्ज्ञा गम्यते। मासार्धमाससंवत्सराणां एषा संज्ञा। पौषीपौर्णमासी अस्मिन् पौषो मासः। पौषोऽर्धमासः। पौषः संवत्सरः।।37।।

अर्थात् पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस नक्षत्र से युक्त होगा उसी नक्षत्र के नाम से मास का नाम होगा। जैसे पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र से युक्त होने पर उस मास का नाम चैत्र होता है। विशाखा नक्षत्र से युक्त होने पर वैशाख होता है। ज्येष्ठा नक्षत्र से युक्त होने पर ज्येष्ठ मास, आषाढ़ नक्षत्र से आषाढ़ मास, श्रवण नक्षत्र से श्रवण मास,(उत्तर) भाद्रपद नक्षत्र से भाद्रपद मास, कृतिका से कार्तिक, मृगशिरा से मार्गशीर्ष, पुष्य से पौष, मघा नक्षत्र से माघ मास, फाल्गुन नक्षत्र से फाल्गुन मास का नामकरण होता है। इस प्रकार मासों के नाम से ही आकाशस्थ ग्रह, नक्षत्रों की स्थिति का बोध होता है, जो हमारे पूर्वजों के खगोलीय ज्ञान का परिचायक है। मन्त्रस्थ मास-नाम और इस समय में प्रचलित नाक्षत्रिक नामों को ऋतुओं के साथ इस प्रकार जानें-

1- वैदिक नाम

मधु, माधव नभस, नभस्य शुक्र, शुचि इष, उर्ज सहस, सहस्य तपस, तपस

2- नक्षत्र

ज्येष्ठ, आषाढ़ श्रावण, भाद्रपद आश्विन, कार्तिक मार्गशीर्ष पौष माघ, फाल्गुन

3- ऋतु

वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर

4- अयन

उत्तरायण, उत्तरायण, दक्षिणायन, दक्षिणायन, दक्षिणायन, उत्तरायण

इस प्रकार संवत्सर को मास एवं ऋतुओं विभक्त किया जाता है।

-द्वे रूपे संवत्सरस्य मासा अन्यऋतवोः "मुखं वा एतदृतूनां यद् वसन्तः।

अर्थात् ऋतुओं में वसन्त मुख सदृश है, प्रथम् स्थानीय है। (अन्यत्र द्रष्टव्य स्थल - ताण्ड्य ब्रा. 5/9/11, कौषितिनी ब्रा. 5/1, शांखायन ब्रा. 19.3) सूर्य और भूमि के बीच में जब चन्द्रमा आता है तब अमावस्या होती है। चन्द्रमा की गति अधिक होने के कारण सूर्य की अपेक्षा से आगे चला जाता है। अतः सूर्य और चन्द्रमा के बीच 12 अंश डिग्री की दूरी का अन्तर पड़ जाता है। वही अन्तर एक तिथि (दिन) कहलाता है। इस प्रकार उनकी बीच की दूरी 12,24,36 ....अंश बढ़ते - बढ़ते पुनः एक रेखा पर आने के लिए अर्थात् एक वृत्त पूरा होने के लिए (360÷12 = 30 तिथियाँ (दिन) बनती हैं, अर्थात् एक गारा पूरा होता है अर्थात् एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक। शतपथ ब्राह्मण कहता है- षष्टिर्मासस्याहोरात्राणि- एकमास में 60 दिन-रात होते हैं अर्थात तीस दिन और तीस रात। अथर्ववेद के मन्त्र-

ये विषप्ताः परियन्ति विश्वा रुपाणि विभ्रतः ।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥11

में त्रिषता पद का अर्थ विद्वान् लोग इस प्रकार करते हैं-

- 3 से 7 तक की विषम संख्याओं का योग 3+5+7=15

- तीन बार सात 307 = 21 (21+15=36)

-3 और 7 का योग 3 + 7 = 10 (36X10 = 360)

अतः एक वर्ष में 360 दिन होते हैं। गोपथ ब्राह्मण भी यही निर्दिष्ट करता है त्रीणि च ह वैशतानि षष्टिश्चसंवत्सरस्याहोरात्राणि।

शास्त्रों में काल की परिगणना मानवीय एवं ब्राह्मवर्षों में की जाती है। ब्राह्म दिन और ब्राह्ममास का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-सृष्टि की स्थिति और प्रलय के काल को मिलाकर एक ब्रह्मदिवस कहते हैं। इसका परिमाण मानवीय गणना में 4 अरब 32 करोड़ वर्ष रहता है। ऐसे 30 दिनों का एक ब्रह्ममास होता है। 12 ब्रह्ममासों का एक ब्रह्मवर्ष होता है। ऐसे 100 ब्रह्मवर्षो को मिलाकर उसे परान्तकाल कहते हैं। एक ब्रह्मवर्ष में 12430=360 ब्राह्म दिन रहते हैं। 100=36,000 ब्राह्म दिन रहते हैं। अर्थात् सृष्टि के 36,000 बार उत्पन्न होकर नष्ट होने के काल को परान्त काल कहते हैं। इसे ही महर्षि दयानन्द ने मोक्ष काल माना है। मुक्तात्मापरान्तकाल अर्थात् 31 नील, खरब, अरब वर्ष तक परब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। उसके बाद मुक्तात्मापुनः जन्म लेता है।

वैदिक ग्रन्थों के अनुसार यह सृष्टि उत्पन्न होकर अभी तक 2079 इस सुदीर्घकालीन परिगणना को अद्यावतस्मरण रखने का क्रम कैसे बना रहे यह कदाचिद् सन्देहास्पद हो तो हमारे पूर्वजों ने इसे सहज ही स्मरण करने का विज्ञान भी विकसित किया है। उन्होंने कुल विशिष्ट रीतियों का प्रवेश हमारे समाज में कर रखा है। कोई व्यक्ति गुरुओं को, विद्वानों की या ज्येष्ठजनों की अभिवादन करते समय अपने गोत्र,वंश पिता आदि का नामोच्चारण करते हुए अपनी विद्यापरम्परा अर्थात अपने वेदशाखा सूत्रादि को ज्ञापित करता था। यह परम्परा आज भी ब्राह्मणों में प्रचलित है। इससे गोत्रादि का स्मरण नहीं होता। इसी प्रकार सृष्टिकाल विस्मृत न हो हमारे ऋषियों ने प्रतिदिन किए जाने वाले संध्या, यज्ञ तथा धार्मिक कृत्यों का प्रारंभ करने से पूर्व कल्पनापाठ की परम्परा का विकास किया। इस संकल्प पाठ में यजमान व पुरोहित सृष्टि के आरम्भ स से लेकर यज्ञानुष्ठान के समय तक की संपूर्ण काल की गणना करते हैं। तथा साथ ही ब्रह्मण्ड से लेकर भूलोक, द्वीप, देश, प्रदेश, पर्वत नदियों विप्रान्तों का नाम नगर, ग्राम, घर, स्थान आदि का भी उल्लेख करते हैं। तत्पश्चात अपने मानोगत शुभकामनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। यह परंपरा आज भी विद्यमान है।

इस प्रकार की परंपरा भारतवर्ष को छोड़कर अन्यत्र मिलना असंभव है। इस प्रकार की परंपरा का हमें पालन करना चाहिए और इस पर गर्व करना चाहिए। परंतु आज की स्थिति पृथक है।

आंस्तानां च कोराजाकस्मिन्कालेकदाऽभवत् ।
इतिसार्वविजानाति न जानातिस्वगृहम् ॥

मैथिलीशरण गुप्त की यह मार्मिक वेदना कितनी पीड़ित करती है - अन्तःकरण को क्या लाभ है? उन हिस्ट्रियों को कण्ठ करने से भला रखते हुए जिनको हमारा बैठ जाता है गला? हां! स्वेद बनकर व्यर्थ ही बहता हमारा रक्त है, सन्संवतओं के फेर में बर्बाद होता वक्त है।।

विक्रम संवत्

भारतवर्ष में कालगणना का एक ही क्रम नहीं है। हमारे देश में जैसे अनेक प्रदेशों में भाषा की विविधता, शिष्टाचार और मनोरंजन आदि की विभिन्नता खानपान, वेशभूषा-वस्त्रादियों में प्राकृतिक संरचना की पृथकता और परस्पर व्यवहारों में विभिन्नता प्राप्त होती, उसी प्रकार सांस्कृतिक कार्यों में, तिथि-पर्वों में और कालगणना में अनेक प्रकार के व्यवहार देखे जाते हैं। सम्प्रति भारतवर्ष में लगभग 26-27 कालव्यवहार के मान प्रचलित हैं, उनमें से सर्वाधिक प्रचलित और प्रसिद्ध विक्रम संवत् है। कलि संवत् 3044 से इसका आरम्भ माना जाता है। इसके विषय में अलबेरुनी लिखता है- जो लोग विक्रमादित्य के संवत् का उपयोग करते हैं वे भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में बसते हैं कृतसंवत् और मालव संवत् को भी विक्रम संवत् का ही नामान्तर माना जाता है। इस संवत् के सन्दर्भ में प्रसिद्धि यह है कि- मालव के राजा विक्रमादित्य ने आततायी शकों को पराजित करअपने नाम से संवत् का प्रारम्भ किया था। धौलपुर से प्राप्त हुए चंडमहासेन के विक्रम संवत् 898 (ई.स.841) के एक शिलालेख में सर्वप्रथम विक्रम पद का प्रयोग इस संवत् के साथ प्रात होता है। विद्वानों की एक परम्परा यह भी मानती है कि विक्रम संवत् यथार्थ में मालव संवत् ही था, किन्तु गुप्त वंश के राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, उनका नाम इस संवत् के साथ जुड़ जाने से इसका सम्बन्ध 'विक्रम संवत् हो गया। इस सन्दर्भ में अन्य विद्वानों का मन्तव्य यह है कि- यह मत भी आदरणीय है कि जब ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध हो जाये कि- 'चन्द्रगुप्त द्वितीय' विक्रमादित्य' से पूर्व विक्रमादित्य' के नाम का अन्य कोई राजा न हुआ हो, परन्तु हाल की 'गाथासप्तशती' से यह सुविदित होता है कि उस पुस्तक के संग्रहित होने से पूर्व 'विक्रम' नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ था। जिसमें विक्रमादित्य की दानशीलता की प्रशंसा की गई है। हाल का समय ईसा की दूसरी शताब्दी से का माना जाता है। इसके अतिरिक्त महाकवि गुणाढ्य रचित पैशाची प्राकृत भाषा के 'बृहत्कथा' नाम ग्रन्थ से प्राप्त होता है, जिसकी प्रशंसा बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित के प्रारम्भ के श्लोक संख्या- 17 में की। वह पुस्तक अब प्राप्त नहीं होती किन्तु उसका संस्कृत अनुवाद - 'सोमदेव भट्ट कृत कथासरित्सागर उज्जैन के राजा 'विक्रम सिंह' (लंबक6, तरंग 1) 'विक्रमतुंग' पाटलीपुत्र के राजा (लंबक 7, तरंग 1) आदि में विक्रम नाम के राजाओं की कई कथाएँ प्राप्त होती हैं। यह विक्रम संवत् ईसा से 57 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था तथा इसमें 135 जोड़ देने से 'शक संवत आता है-अर्थात्- 2022+57=2079 वि. सं., 1944 शक संवत् + 135 = 2079 वि.सं. उत्तर भारत में इस संवत् का प्रारम्भ चैत्रादि है। चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से यह चलता है और पूर्णिमान्त है अर्थात् पूर्णिमा के साथ मासान्त होता है। दक्षिण भारत में यह कार्तिकादि है- कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। अमान्त अर्थात् अमावस्या को मासावसान होता है। काठियावाड़-गुजरात तथा राजस्थान के कुछ अंश में विक्रम संवत् का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा से होता है, जिससे 'आषाढ़ादि संवत्' कहलाता है। इस प्रकार अनेक प्रचलित अल्पप्रचलित संवतों के मध्य में विक्रम संवत् का सर्वाधिक प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि काल निर्धारण करना जटिल कार्य है क्योंकि प्रथम- यह जानना आवश्यक है संवत्कार्तिकादि, चैत्रादि, आषाढ़ादि श्रवणादि है। द्वितीय- अमान्त है या पूर्णिमान्त। तृतीय- वर्तमान या प्रवर्त्यमान रूप में भी गत, विगत या अतीत रूप में लिखे जाते हैं। चतुर्थ– गणक (ज्योतिषी) लेखक के द्वारा त्रुटि सम्भव है। पत्रों या पंचांगों में भी दोष पाये जाते हैं। आज भी कभी-कभी वाराणसी और उज्जैन पंचांगों में तिथि के आरम्भ में ही अन्तर मिलता है। मौलिक त्रुटि भी सम्भव है। राजदरबारों में भी यह त्रुटि हो जाती थी। इतिहास में-कालचुरि 'रत्नदेव द्वितीय के सन् 1128 ई. के सर्खो लेख से यह सूचना मिलती है, कि दरबार में ज्योतिषियों से ठीक गणना ही नहीं होती थी। तब पद्मनाभनाम के ज्योतिषी ने बीज संस्कार दिया, जिससे तिथियों का ठीक निर्धारण हो सका। राजा ने पद्मनाभ को पुरस्कृत किया था। अतः अयोग्यता के कारण त्रुटि सम्भव है। वर्तमान में हमने सद्य एवं पश्चिम बंगाल में विधानसभा की कार्यवाही संचालन करने में एएम और पीएम लिखने की त्रुटि के कारण रात्रि 12 बजे से कार्यवाही संचालन का आदेश माननीय राज्यपाल को देना पड़ा। अतः इन सब सम्भावनाओं के मध्य अन्तःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य की परीक्षा करके संवत् का निर्धारण करना चाहिए। ■

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अथर्ववेद, वैदिक संशोधन मंडल, पुणे, महाराष्ट्र।

2. आर्षविज्ञान, स्वामी सत्यप्रकाश, विज्ञान परिषद प्रयाग उ. प्र.।

3. ऋग्वेद (सायणभाष्य) वैदिक संशोधन मंडल, पुणे, महाराष्ट्र।

4. ऋग्वेद, वेदसंस्थान, दिल्ली।

5.ज्योतिष शास्त्रे दिग्देशकाल ज्ञानम्-नागेंद्र पाण्डेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।

6. पाण्डुलिपि विज्ञान, सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजस्थान।

7. प्राचीन भारतीय अभिलेखमाला, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली।

8. प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार स्वामी सत्यप्रकाश, पुस्कायन, अंसारी रोड, नई दिल्ली।

9. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली।

10. भारतीय ज्योतिष, सच्चिदानन्द मिश्र, भारतीय ज्योतिष संस्थान, वाराणसी।

11.मनु स्मृति- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली। यजुर्वेद, वेदसंस्थान, दिल्ली।

12.वेदवाणी, दिसंबर, 2014, अंक 2, मई 2015 रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा।

13. वैदिक सम्पत्ति, रघुनन्दन शर्मा, घूडमल प्रकाशन, हिण्डौन राजस्थान।

14. शतपथ ब्राह्मण, विजय कुमार गोविंदराम हासानन्द, दिल्ली।

15. सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।

सम्वत् प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य

• पं.भागीरथ जोशी

प्रस्तावना - भारतीय इतिहास महान् राजाओं की गाथाओं से भरा पड़ा है। भारत में ऐसे-ऐसे राजा हुए हैं जो कि मृत्युलोक से सीधे स्वर्गलोक एवं अन्य लोकों में बिना किसी बाधा के भ्रमण किया करते थे। ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक, नरकलोक जैसा कि उल्लेख में आया है कि नचिकेता पिता की आज्ञा से सशरीर नरक, स्वर्ग आदि देखकर आए थे। ऐसे ही एक राजा विक्रमादित्य हुए है इनके पास नवग्रह अपना न्याय करवाने आये थे। इससे यह कह सकते हैं कि भारतीय भूमि वीरों- संतों एवं विद्वानों की जन्मस्थली रही है। राजा के लिए विक्रमादित्य के जन्म महेन्द्रादित्य को पुत्र प्राप्ति के लिए विविध प्रकार की तपस्या एवं व्रत करने पड़े थे। महेन्द्रादित्य की पुत्र की अभिलाषा तथा देवताओं का शिव के यहाँ पहुँचना एक ही समय हुआ। महेन्द्रादित्य ने शिव जी से पुत्र प्राप्ति की इच्छा की एवं देवताओं ने भी पृथ्वी पर से सनातन धर्म के उद्धार की प्रार्थना की तब शिवजी ने देवताओं को संतुष्ट कर भेजा कि शीघ्र ही मैं धर्मोद्धार का कार्य करूँगा। राजा महेन्द्रादित्य को भी आशीर्वाद दिया कि शीघ्र ही तुम्हारे पुत्र होगा। इसके बाद शिवजी ने पार्वती के पास बैठे हुए अपने गण माल्यवंत' से कहा कि वत्स। मृत्युलोक में जाकर राजा महेन्द्रादित्य के घर वीर पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करो।" शिव जी की आज्ञा पाकर माल्यवंत नामक गण ने महेन्द्रादित्य के पुत्र के रूप में कलियुगाब्द 3000 में वैशाख शुक्ल पक्ष द्वितीया गुरुवार को मध्याह्न काल में कर्क लग्न में जन्म ग्रहण किया। ये ही बड़े होकर विक्रमादित्य कहलाए। यह भी कहा जाता है कि राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई राजा भर्तृहरि हुए हैं। विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य था एवं माता का नाम सौम्यदर्शना था परन्तु ग्रन्थ भेद से देखें तो पिता का नाम गर्दभिल्ल, गंधर्वसेन, गर्दभ वेशधारी, गंधर्व एवं माता का नाम वीरमती, मदनरेखा भी आया है। भाई में आते है शंख एवं भर्तृहरि परन्तु इनमे भी अधिकांश भर्तृहरि को ही मानते हैं। प्रबंध चिन्तामणि के अनुसार प्रियंगुमंजरी नाम की एक बहिन का उल्लेख भी आया हैं। इनके कुल सात पत्नियाँ थीं इनमें से मुख्य थी मलयावती। विक्रमादित्य काल्पनिक चरित्र ?- भारतीय ग्रन्थ जैसे वेद एवं पुराण प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। जब हम इनको समझ नहीं पाते हैं तो काल्पनिक कह देते हैं। सबसे पहले आकाश में उड़ने के लिए पुष्पक विमान का वर्णन रामायण में प्राप्त होता है परन्तु जब तक हमने वायुयान नहीं बना लिया तब तक हम पुष्पक विमान को काल्पनिक ही कहा करते थे। इसी प्रकार से हमारे पास पौराणिक साक्ष्य है परन्तु विदेशी लेखकों को कुछ तथ्य नहीं मिले तो उनने विक्रमादित्य को काल्पनिक बता दिया। हम भी उनका अनुसरण करते हुए यही स्वीकार कर चुके है कि विक्रमादित्य एक काल्पनिक चरित्र हैं। शास्त्रों में लिखा है कि उज्जैन में महाराजा विक्रमादित्य का जन्म हुआ है तो उसके प्रमाण के रूप में उज्जैन में हरसिद्धि माता के पास विक्रमादित्य की मूर्ति है। वहीं पास में विक्रमादित्य का सिंहासन भी माना जाता हैं उनके भाई का नाम भर्तृहरि आता है तो राजा भर्तृहरि की गुफा भी है। शनिमहाराज की कथा से भी आया

है कि राजा विक्रमादित्य के हाथ पैर कटवा दिए गए थे। भविष्य पुराण में इनके जन्म एवं बत्तीस पुतलियों का विवरण, बेताल की सिद्धि का विवरण आदि आते हैं।

ज्योतिर्विदाभरण, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर, प्रभावकचरित, भविष्यपुराण, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, लोकप्रिय कथाएँ, शनिश्चर कथा, बृहत्संहिता श्रीमद्भागवत पुराण जैसे ग्रंथों में विक्रमादित्य के नाम का उल्लेख हुआ है। उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य नाम के राजा काल्पनिक नहीं वास्तविकता में उज्जैन में हुए थे। सभी एकमत से कालिदास को स्वीकार करते हैं कि कालिदास बहुत ही बड़े विद्वान हुए हैं और उनके द्वारा कई ग्रंथों की रचना की गई है तो हमको उनके ग्रंथों में आए विवरण को सत्य मानकर यह स्वीकारना ही पड़ेगा कि विक्रमादित्य थे, कुछ विद्वान भाषा शैली के आधार पर प्राचीन को अर्वाचीन ठहराने की कौशिश करते हैं जो कि गलत है, क्योंकि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है और भाषाशैली में बदलाव आता है वैसे ही नए लेखक प्राचीन भाषा के स्थान पर वर्त्तमान की भाषा में ग्रंथों की रचना करते हैं। इससे भाषाशैली के आधार पर किसी भी महापुरुष के जन्म से संबंधित जानकारी वास्तविक रूप से ज्ञात नहीं की जा सकती है।

विक्रमादित्य कालीन कालगणना

विक्रमादित्य के नवरत्नों में वराहमिहिर का नाम आता है और वराहमिहिर के द्वारा बृहज्जातक, बृहत्संहिता, पंचसिद्धान्तिका(1 पोलिश सिद्धांत 2.रोमक सिद्धांत 3. वशिष्ठ सिद्धांत 4. सूर्य सिद्धांत 5. पितामह सिद्धांत), त्रिकोणमिति के सूत्र आदि विधाएँ उस समय प्रचलित थी परन्तु कुछ वराहमिहिर का जन्म सन् 505 ई. बताते हैं। इससे ये काल गणना उनके समय की नहीं कह सकते है परन्तु वराहमिहिर एवं विक्रमादित्य समकालीन थे तो पंचांग गणित उस समय भी चला करता था। यदि हम वराहमिहिर को विक्रमादित्य के समकालीन नहीं मानते हैं तो भी कालिदास के द्वारा लिखित पुस्तकें पूर्वकालामृत एवं उत्तरकालामृत हैं इनमें ग्रहों के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अर्थात् उस समय पंचांग एवं ग्रहगणित का सम्पूर्ण ज्ञान उस समय के विद्वानों को था, क्योंकि बिना पंचांग के जन्म पत्रिका का निर्माण नहीं किया जा सकता है। यदि कालिदास के द्वारा जातक फलित के ग्रन्थ लिखे गए तो उस समय पंचांग की गणना भी निश्चित रूप से चला करती थी।

सम्वत् का प्रवर्तन

पश्चिम में सौराष्ट्र से शकों का आक्रमण हुआ उस समय विक्रमादित्य के पिता महेन्द्रादित्य निश्चिन्त थे उन्हें अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था। परन्तु सौराष्ट्र शकों द्वारा जीत लिया गया एवं वहाँ रहकर उनके द्वारा शक्ति का संचय किया गया। शक्ति संचय करके महेन्द्रादित्य के राज्य पर भी शकों द्वारा हमला कर दिया गया। महेन्द्रादित्य बड़ी ही वीरता के साथ लड़े परन्तु सैनिक शक्ति कमजोर होने के कारण उनको बड़ी हार का सामना करना पड़ा एवं उज्जैन छोड़कर भागना पड़ा। यहाँ पर महेन्द्रादित्य एवं विक्रमादित्य दोनों ही बिखर गए परन्तु विक्रमादित्य हार मानने वाले नहीं थे उनके द्वारा पुनः शक्ति का संग्रह किया गया एवं शकों को परास्त कर दिया । देश के बहुरंगीय इतिहास में शकों की पराजय एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी। विदेशी शकों के अत्याचारपूर्ण शासन से देश मुक्त हो गया। इस सफलता का श्रेय कई गणराज्यों के सम्मिलित प्रयास को जाता हैं। जिसमें मालवों ने प्रमुख रूप से भाग लिया था। विक्रमादित्य को शकों पर विजय के कारण शकारी की उपाधि मिली। इस घटना ने देश में शान्ति तथा समृद्धि के युग का आरम्भ किया, जिसे अलंकारिक भाषा में कृत कहा गया। भारतीय इतिहास की इस राष्ट्रीय महत्त्व की घटना की स्मृति में एक सम्वत् की स्थापना पर विचार किया गया। प्राचीन समय में एक नियम था कि सम्वत् का प्रवर्तन वही व्यक्ति कर सकता है जो कि सम्पूर्ण जनता को कर्जमुक्त कर दे। विक्रमादित्य के द्वारा सम्पूर्ण जनता को कर्ज मुक्त किया गया एवं शकों की पराजय के उपलक्ष्य में सम्वत् का प्रवर्तन किया गया। पूर्व समय में इस सम्वत् का नाम 'कृत' था जो की बाद में मालवगण सम्वत्'. मालवों का सम्वत्' 'मालवेशों का सम्वत्' कहलाया। अंततो-गत्वा नौवीं शती के मध्य में इस सम्वत् को 'विक्रम सम्वत्' या 'राजा

विक्रम सम्वत्' कहा जाने लगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्वत् की स्थापना का प्रमुख उत्तरदायित्व विक्रमादित्य को ही था। सभी लोकप्रिय तथा जैन अनुश्रुतियाँ इस बात पर सहमत हैं। कालकाचार्य कथा के अनुसार विक्रमादित्य ने एक उच्च तथा महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने के पश्चात् पृथ्वी को भारमुक्त करके अपना सम्वत् चलाया। वर्त्तमान ज्योतिषिय की परम्परा विक्रमादित्य को भारतीय सम्वत्सरों के संस्थापकों की श्रेणी में रखती है। इतिहास एवं विक्रम सम्वत्- वास्तव में विक्रम सम्वत् भारत वर्ष की एक सजीव संस्था है। सारे देश में वह जीवंत है। सर्वत्र उसी से गणना की जाती है, 2022 वर्ष पूर्ण कर लेने पर भी ईसवी सन, विक्रम सम्वत् के अस्तित्व और मयूख को विनष्ट न कर सका। सतत 2080 वर्ष की यात्रा करता हुआ वह कालजयी बना हुआ है। भगवद्गीता और मेघदूत की तरह भारत में ही नहीं विश्व में अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। जिन कारणों से सम्वत्सर प्रणेता शकारि विक्रमादित्य ने 'विक्रम' नाम के साथ अपने सम्वत् की प्रतिष्ठा की थी। वे कारण थे शकों का पराभव, विदेशियों का निवारण, भारतीय संस्कृति का उद्धार एवं संरक्षण आदि। वस्तुतः शकों की वह पराजय भविष्य के लिए भारतीय स्वतंत्रता की प्रतीक ही बन गई। जब हम विक्रम सम्वत् अथवा विक्रम पदधारी किसी व्यक्ति का संस्मरण करते हैं तो हम ऐसे ही इतिवृत्त का स्मरण करते हैं जिसने भारतवर्ष की पद दलित राष्ट्रीय स्वतंत्रता का पुनरुद्धार किया था, आश्चर्य की बात है कि जिस पुनीत कार्य की पूर्ति को 2080 वर्ष का समय हो चुका है, उसके व्यक्तित्व के निर्णय करने में इतिहास वेत्ता विफल हो रहे है। शालिवाहन ने अपनी उपाधि को विक्रमोपाधि से विभिन्न प्रकट करने के लिए विषम शील विक्रम के रूप में ग्रहण किया था। शालिवाहन समय को भी 'शक शालिवाहन' कहा जाता है, केवल सम्वत् नहीं। जबकि विक्रम सम्वत् केवल 'सम्वत्' शब्द से ही सुपरिचित है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि शालिवाहन के समय में 'शक' इसलिए रखा गया था कि वह काल 'शक काल' है। अन्य सम्वत् से उसकी विभिन्नता प्रतीत हो।

सम्वत् की एकता का संदेह उत्पन्न न हो। विक्रमादित्य चाहे उनका व्यक्तित्व कुछ भी रहा हो, वे अंशावतार के रूप में या एक धार्मिक अथवा श्रद्धासमवेत भक्त राजा के रूप में चित्रित होते। जैन साहित्य में विक्रमादित्य एवं उसके सम्वत् संस्थापक के सम्बन्ध में यथेष्ट विस्तृत विवरण प्राप्त होता है व सारा ही विक्रम प्रशंसा से पूर्ण है। अकेले जैन साहित्य में 44 से अधिक पुस्तकें विक्रमादित्य की विशेषता, कथा-किंवदंतियों से भरी हुई हैं। यदि विक्रम सम्वत् किसी धार्मिक उत्पीड़न का स्मारक रहा होता अथवा किसी साम्प्रदायिक अत्याचारी से उसके संस्थापक का सम्बन्ध होता तो अवश्य ही जैन- साहित्य में ठीक विपरीत वर्णन प्राप्त होता। किन्तु जैन साहित्य में जिस उदारता और श्लाघा से विक्रम का उल्लेख हुआ है, उससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विक्रम सम्वत् सर्वथा निर्दोष एक राष्ट्रीय सांस्कृतिक एवं सार्वजनिक विषय है। उसकी स्थापना का सम्बन्ध ऐसे ही व्यक्ति से है, जो धार्मिक साम्प्रदायिक द्वेष भाव से रहित, पक्षपात से पृथक, न्याय परायण, उदार, प्रजाप्रिय तथा सार्वजनिक सम्मान भाजन व्यक्ति विशेष है। दिगंबर जैन विद्वान नेमीचंद्र ने अपने तिलोपसार में कल्कि का जन्म 1000 वीर निर्वाण सम्वत् में लिखा है, जो 395 शक अथवा 430 विक्रम सम्वत् के समसामयिक होता है। सारांश यह कि जैन ग्रन्थ जिस किसी भी जैनोत्पिड़क नरेश का उल्लेख कल्कि के नाम से करते हैं वह निर्विवाद विक्रम सम्वत् के बाद का ही है। वह पुष्यमित्र संभवत: नहीं होगा। न वह धार्मिक किसी विषय से संबंधित सम्वत् ही है। मंदसौर (दशपुर) से प्राप्त सम्वत् 461 के लेख में इस विक्रम सम्वत् को 'कृत' संज्ञा से ज्ञापित किया गया है। इसी तरह नगरी (माध्यमिक नगरी) के शिलालेख में जो अजमेर के संग्रहालय में है सम्वत् 401 को भी कृत' शब्द से ही सूचित किया गया है। मंदसौर से ही प्रथम कुमार गुप्त के समय में लिखे गए सम्वत् 493 के शिलालेख में इसका नाम विशेष न देकर ऐसे पदों का प्रयोग किया गया है कि जिससे सम्वत् के आरम्भ होने का इतिवृत्त प्रकट होता है, अर्थात् 'मालवाना गणस्थित्या और वहीं से प्राप्त यशोधर्मन कालीन उत्कीर्ण शिलालेख में भी उसी घटना का उल्लेख है- 'मालवगण स्थितिवशात् इन शब्दों का स्पष्ट अर्थ होता है मालवों के गण संघ की स्थिति से तथा उस घटना काल से गिना जाने वाला सम्वत्। इसी प्रकार कोटा के निकट शिव मंदिर में लगे हुए एक शिला लेख में सम्वत् 795 में 'मालवेशों का सम्वत्सर' कहा गया है। इसमें बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

डॉ. फ्लीट के गुप्ता इस्क्रिप्शिंस के पृष्ठ 243 पर इस सम्वत् का एक उल्लेख सम्वत् 426 का भी है और पृष्ठ 74 पर सम्वत् 480 का भी है दोनों स्थानों पर 'कृत' उत्कीर्ण किया गया है। शुंग नरेश पुष्यमित्र के सम्बन्ध में कल्पित बौद्धोत्पिडक कहानी और उसके दो अश्वमेध यज्ञों से 'कृत' की कुटिल कल्पना कर विक्रम सम्वत् को धार्मिक बतलाने का प्रपंच व्यर्थ एवं भ्रामक ही है। विक्रम सम्वत् का शुगवंश से सम्बन्ध जोड़ा नहीं जा सकता है। गर्दभिल्ल की चर्चा करते समय कुछ विवेचन की आवश्यकता है।आईने अकबरी में विक्रमादित्य को गंधर्वसेन का उत्तराधिकारी कहा गया है। कुछ विद्वान शूद्रक और विक्रमादित्य को एक ही व्यक्ति बतलाते हैं, कई विद्वानों का विचार है कि विक्रमादित्य का निज नाम साहसांक था। जैन गाथाओं के अनुसार विक्रमादित्य सुवर्ण पुरुष था, उसे सुवर्ण बनाने की विद्या प्राप्त थी, इसी कारण उन्होंने अपनी समस्त प्रजा को ऋण मुक्त कर दिया था, विक्रमादित्य के व्यक्तित्व में इन सभी बातों का समाधान प्राप्त होना चाहिए, इनसे भी अधिक यह भी आवश्यक है कि उनके नवरत्नों का भी सहयोग जुड़ना चाहिए।

विक्रम सम्वत् ' कृत' नाम को देखकर कुछ विद्वानों ने शकारि का नाम कृत होने की संभावना भी व्यक्त की है। संक्षेप में उन लोगों का यह विचार भी है कि मानवगण के विजयी व्यक्ति ने शकों को भारत से निकालकर बाहर किया था, इसलिए उसके नाम से यह सम्वत् कृत जापित हुआ था। यह विचार सामान्यतः स्वीकार किये जाने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। कृत नाम मालवा के इतिहास में नवीन नहीं है, कार्तवीर्यार्जुन का पिता भी कृत नाम धारी था। इसमें थोड़ी सी साहित्यिक आपत्ति आती है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का नाम तद्धितात या समासात होने चाहिए। कृताब्द, कृत संवत्सर या कार्येषु आदि रूपों का प्रयोग देखने में नहीं आता, तथापि इस सम्वत् को कृत नाम से अभिहित किए जाने का हेतु है।

उपरोक्त बिन्दुओं के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं-

1. उज्जैन में महेन्द्रादित्य नाम के राजा हुए हैं।
2. विक्रमादित्य नाम के राजा उज्जैन में हुए हैं।
3. महेन्द्रादित्य शकों से बुरी तरह पराजित हुए थे।
4. विक्रमादित्य ने शक को हराकर अपने पिता महेन्द्रादित्य द्वारा खोया राज्य पुनः प्राप्त कर लिया था।
5. शकों को परास्त करके सम्वत् की स्थापना की जिसे आज विक्रम सम्वत् के नाम से हम जानते हैं।
6. ईस्वी सन् से 57 वर्ष पूर्व सम्वत् की स्थापना विक्रमादित्य के द्वारा की गई थी।
7. दक्षिण भारत एवं गुजरात में कार्तिक से सम्वत् बदलता है, जबकि उत्तरी भारत में चैत्र शुक्ल पक्ष प्रतिपदा से सम्वत् बदलता है। ■

आधार ग्रंथों की सूची-

1. विक्रमादित्य सम्वत् प्रवर्तक प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-1 लेखक राजबली पाण्डेय एमए डी.लिट्
2. सम्वत् प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य प्रकाशक पांडुलिपि प्रकाशन ई-11/5 कृष्ण नगर दिल्ली 110051 लेखक राजशेखर व्यास।
3. विक्रमादित्य की गौरव गाथा प्रकाशक श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय गुरु पुष्कर मार्ग उदयपुर 313001 लेखक आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि।
4. शनिश्चर कथा प्रकाशक जोशी पुस्तक भवन किशनगढ़ (अजमेर) 305802
5. उत्तर कालामृत प्रकाशक रंजन पब्लिकेशन 16 अंसारी रोड, दरियागंज ,नई दिल्ली 110002 रचयिता कवि कालिदास।
6. बृहत्संहिता प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी लेखक वराहमिहिर।

साहित्य एवं अनुश्रुतियों में भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य

• डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी एवं अनिमेष नागर

भारतीय जनमानस के स्मृति पटल को भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य ने गहन रूप से प्रभावित किया है। भारतीय उपमहाद्वीप पर विद्यमान विभिन्न संस्कृतियों में उभय भ्राताओं की गौरवगाथा को अविस्मरणीय स्थान प्राप्त है। भारत के प्रत्येक राज्य में विक्रमादित्य एवं भर्तृहरि के कथानक को अपने-अपने क्षेत्राचार एवं संस्कृति के अनुरूप ढाल कर प्रस्तुत किया गया हैं। भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक चरित्र के कारण एक-दूसरे को बाधित करती हुई अनुश्रुतियाँ, एक ही कालखण्ड में घटित हुई समान घटनाएँ एक-साथ निर्विरोध रूप से अपने-अपने क्षेत्र में दोनों भ्राताओं के यश को गुंजायमान करती हैं। कश्मीर से लेकर केरल पर्यन्त उज्जयिनी के राजा भर्तृहरि एवं उनके अनुज विक्रमादित्य के जीवन से जुड़े अनेक कथानक, अनुश्रुतियाँ एवं लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

उत्तम काव्य एवं केसर की भूमि कश्मीर में उत्पन्न हुए कल्हण अपनी राजतरंगिणी के तृतीय तरंग में सम्राट विक्रमादित्य से सम्बन्धित एक आख्यान का उल्लेख करते हैं।[1] जिस समय राजा हिरण्य के निधन के कारण कश्मीर की भूमि नृपति विहीन हो। उस काल में उज्जैनी में एकछत्र चक्रवर्ती श्रीमान् विक्रमादित्य का शासन था।' महाराज विक्रमादित्य साक्षात् विष्णु के समान थे, जो राज्यलक्ष्मी के परिपालन में नित थे। उनके द्वारा म्लेच्छ शकों का विनाश ठीक उसी प्रकार किया गया जिस प्रकार नारायण अवतार ग्रहण कर असुर-राक्षसों का करते थे। दिग्-दिगन्तर में उनकी ख्याति के विषय में सुनकर मातृगुप्त' नामक काश्मीरक ब्राह्मण कवि उनके पास भेट करने पहुँचा।

सम्राट को कश्मीर की वस्तुस्थि ज्ञात थी अतः मातृगुप्त के गुणों तथा बुद्धिमत्ता से प्रसन्न होकर उसे अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक पत्र व कुछ द्रव्य देकर कश्मीर भेजा। यह पत्र कश्मीर के मन्त्रियों तथा कुलीनों के नाम था। उसे आदेश दिया गया कि वह उज्जैन से कश्मीर की यात्रा अकेले करे। पत्र में लिखा था मातृ गुप्त को योग्यता के कारण कश्मीर का राजा नियुक्त किया जाये। राजसिंहासन का रिक्त रहना राजपुरुषों के लिए समुचित नहीं है। कश्मीर के मन्त्रियों तथा कुलीनों ने पत्र पर विचार करने के लिए परिषद् बुलायी। अन्त में यह निर्णय किया गया कि महाराजाधिराज विक्रमादित्य का आदेश सर्वथा पालनीय है अतः मातृगुप्त को कश्मीर के सिंहासन पर अभिषिक्त किया जाये। समाट् विक्रमादित्य के अनुग्रह से मातृगुप्त ने पाँच वर्ष तीन मास तथा एक दिन तक कश्मीर पर शासन किया। इस आख्यान से हमें समाट् विक्रमादित्य की गुणग्राह्यता, दूरदर्शिता एवं धर्मनिष्ठा का बोध प्राप्त होता है।

विक्रमादित्य के सहस्रवर्ष पश्चात् कुमारपाल नाम का राजा होगा जो गुण एवं पराक्रम में उन्हीं के समान होगा। कुछ शब्दान्तरों के साथ यह आख्यान सोमदेवसुरिकृत कुमारपालचरित्रम में भी उज्जैन के बौद्धाचार्य परमार्थ (499-567CE) द्वारा चीनी भाषा में अनुवादित किये आचार्य वसुबन्धु के जीवन चरित्र में अयुज (उज्जैन) के राजा विक्रमादित्य का वर्णन किया है। परमार्थ लिखने "महाराज विक्रमादित्य सनातन एवं बौद्धादि मतों के प्रति समभाव रखने वाले धर्मप्रिय राजा थे। उन्हें सभा में सांख्याचार्य विंध्यवासी ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया विक्रमादित्य के द्वारा विश्वासी को तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ प्रदान की गई थीं।" "चीनी यात्री इत्सिंग (635-713 CE) द्वारा अपने यात्रा विवरण ता-तंगड-सी-यु-की में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध विद्वान अलवरूनी (973-1050CE) नें 'तारिख उल हिन्द' में महाराज विक्रमादित्य ने आचार्य व्याडि के कथानक का उल्लेख किया है। रससिद्धाचार्य व्याडि प्राचीन भारतीय रसायनशास्त्र के ज्ञाता एवं विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे।" साथ ही अलबरूनी ने महाराज विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराभव का आख्यान तथा इसकी स्मृतिरूप में प्रवर्तित किये गये विक्रम सम्वत् का उल्लेख किया है। इनके वर्णन अनुसार पश्चिमी व दक्षिणी भारत के क्षेत्र में विक्रम संवत् प्रचलि नेपाल देश में प्रसिद्ध देवमाला वंशावली में वर्णित अनुश्रुति के अनुसार 12 वर्ष की अवस्था में विक्रमादित्य एक बार छद्मवेश धारण कर उज्जैन से नेपाल तीर्थयात्रा पर गये। नेपाल के सूर्यवंशी राजा धर्मदेव के द्वारा नित्य प्रचुर मात्रा में स्वर्णदान किया जाता था। इस अथाह सम्पदा का रहस्य ज्ञात करने हेतु उन्होंने राजा धर्मदेव का गुप्तरूप से पीछा किया। राजा नित्य निशाकाल में देवी व्रजयोगिनी का दर्शन करने शांखु आते थे, पूजन के पश्चात् वे अपने देह से माँस की बलि देवी को चढ़ाते थे, जिससे प्रसन्न होकर देवी उन्हें अथाह स्वर्ण प्रदान किया करती थीं। जब यह रहस्य विक्रमादित्य को ज्ञात हुआ तो उन्होने राजा धर्मदेव के आने के पूर्व ही देवी वज्रयोगिनी का पूजन कर अपने सिर को काटकर देवी को भेंट कर दिया। इस प्रकार विक्रमादित्य के आत्मबलिदान से प्रसन्न होकर देवी ने उन्हें पुनः जीवित कर चक्रवर्ती सम्राट होने का वरदान दिया। देवी व्रजयोगिनी के प्रसाद से उन्हें अग्निवेताल की सिद्धि प्राप्त हुई। व्रजयोगिनी का यह मन्दिर नेपाल के शंखमुल (शांखु) में स्थित है। नेपाल के पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित भाषा वंशावली के प्रथमखण्ड में भी यह आख्यान शब्दान्तरों के साथ प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में महाराज विक्रमादित्य के जन्म पराक्रम, नेपाल में व्यतीत किये समय एवं अन्य कथानकों का वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार महाराज विक्रमादित्य का जन्म रविवार, वसन्त पंचमी को हुआ था। तमिलनाडु में प्रचलित पट्टिनाथार् एवं भर्तृहरिनाथार् सम्बिन्धत अनुश्रुति के अनुसार तमिलदेश के सिद्धपुरुष पट्टिनाथार् काशीविश्वनाथ का दर्शन कर स्वदेश लौट रहे थे, यात्रा क्लान्त होने के कारण उन्होंने उज्जयिनी की एक धर्मशाला में विश्राम किया। दैववशात् गंर्धवसेन के पुत्र राजा भर्तृहरि के सैनिकों के द्वारा उन्हें आभूषणों की चोरी के मिथ्यारोप में बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया गया। राजा द्वारा उन्हें चोरी के आरोप में सूली पर चढ़ा देने का दण्ड दिया गया। सैनिक जब राजाज्ञा का पालन करते हुए सूली तैयार कर रहे थे, तब पट्टिनाथार् के दृष्टिपात मात्र से सूली जलकर भस्म हो गई। इस पर जब सम्पूर्ण घटना का विवरण सैनिकों ने राजा भर्तृहरि को दिया तो भर्तृहरि को बोध हुआ कि ये कोई अपराधी न होकर महात्मा वा सिद्धपुरुष हैं। राजा भर्तृहरि ने घटनास्थल पर पहुँच कर क्षमा याचना की और पट्टिनाथार् को बन्धनमुक्त किया। पट्टिनाथार् ने को बोधित करने हेतु पूछा, तुम्हें संसार में सबसे अधिक प्रेम एवं विश्वास किस पर है ? राजा ने उत्तर दिया अपनी पत्नी पिंगला पर। इस पर मन्द-मन्द हँसते हुए पट्टिनाथार् ने कहा पहले एक बार अपने अन्तःपुर का निरीक्षण तो कर लो। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब भर्तृहरि ने अन्तःपुर में प्रवेश किया तो अपनी पत्नी पिंगला के अस्तित्व का प्रकटन हुआ, शुब्ध होकर भर्तृहरि ने अपना राज्य अपने अनुज विक्रमादित्य को सौंप संन्यास ग्रहण कर लिया। मात्र कौपिन तथा भिक्षापात्र धारण कर भर्तृहरि अपने गुरु पट्टिनाथार् के साथ वे दक्षिणदेश में चले गये। यहाँ पर तिरूवोट्टियुर नामक शिवक्षेत्र में साधना करते

हुए भर्तृहरि को मोक्ष की प्राप्ति हुई। ऐतियमाला केरल की ऐतिहासिक तथा अनुश्रुति पर आधारित घटनाओं का संग्रह है जिसकी रचना केरल के प्रसिद्ध विद्वान कोट्टारथिल शाकुन्नि ने सन् 1875-1900 के मध्य की था। इस ग्रन्थ में केरल के इतिहास से जुड़े व्यक्तित्वों का ऐतिहासिक तथा अनुश्रुतियों के अनुरूप वर्णन प्राप्त होता है। सामान्यतया विद्वानों ने विक्रमादित्य तथा भर्तृहरि का सम्बन्ध मालवदेश से जोड़ा है, परन्तु यदि ऐतियमाला को आधार बनाकर इन दोनों व्यक्तित्वों का अध्ययन किया जाएं तो इनका संबंध सुदूर दक्षिण की केरलभूमि से जोड़ा जा सकता है। डॉ. श्रीकुमारी रामचन्द्रन् तथा केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार एम. आर. वारियार ने ऐतिहयमाला के आधार पर दोनों भ्राताओं का सम्बन्ध चेरदेश के जोड़ने को प्रयास किया है। शाकुन्नि लिखते है— केरल के एक प्रसिद्ध नाम्बुथिरी घराने में एक मूर्ख ब्राह्मण बालक था। मेधा तथा प्रज्ञा के अभाव में विद्वानों के उस परिवार में वह अत्यन्त दुःख पाता था। एक बार अपने दादा के श्राद्ध में इस बालक से कोई अपराध होने के कारण उसे निष्कासित कर दिया गया और बालक से कहा गया यदि तुम महाभाष्य का सम्पूर्ण अध्ययन कर सको तो हर यहाँ पुनः आना अन्यथा तुम्हें आत्मघात करना शोभा देता। बालक ने निश्चय किया कि वह महाभाष्य का अध्ययन अवश्य करेगा। केरल के विद्वानों में उस बालक की मूर्खता के किस्से प्रसिद्ध थे अतः कोई भी उसे महाभाष्य पढ़ाने को राजी न हुआ। अन्त में बालक ने निराश होकर आत्मघात करने का विचार किया। वहीं एक वृक्ष पर विद्यादान नहीं करने के फलस्वरूप ब्राह्मण का प्रेत ब्रह्मराक्षस योनि में रहता था। ब्रह्मराक्षस ने बालक की प्राण रक्षा कर उसे महाभाष्य का अध्ययन करवाने का प्रस्ताव रखा। बालक को महाभाष्य पढ़ाने वाले गुरु की उपलब्धि हुई तथा उस ब्रह्मराक्षस को अपनी मुक्ति का मार्ग मिल गया। ब्राह्मण बालक रोज पेड़ के नीचे आता तथा उस ब्रह्मराक्षस से अध्ययन करता। ब्रह्मराक्षस गुरु ने उसे एक सिद्धौषधि भक्षण हेतु दी। इस औषधि के प्रभाव से उस बालक ने मात्र महाभाष्य ही नहीं अपितु अपने गुरु की समस्त विद्या का अध्ययन बारह वर्षों जैसे कम अवधि में कर लिया। समापर्नतन का वह दिन आया, जिसकी उसके ब्रह्मराक्षस गुरु को प्रतिक्षा थीं, समापर्वत संस्कार होते ही गुरु की मुक्ति हो गई, उसने दिव्यदेह धारण कर अपने शिष्य को दर्शन दिये तथा एक चेतावनी दी –"अगले छः मास तक जल का स्पर्श मत करना अन्यथा तुम छ:मास के लिए निद्रा में चले जाओगे। " इतना कह कर वह अंतध्यार्न हो गया।

अपने गाँव की ओर जाते समय ब्राह्मण युवक के चरणों का स्पर्श मार्ग में जल से हो गया, जल का स्पर्श होते ही वह तुरन्त छः मास की निद्रा में चला गया। उसी मार्ग से एक शूद्र जाति के पिता तथा पुत्री जाते थे। उन्होंने अचेत युवा को देखा, तो उन्हें उस पर दया आ गई। जैसे-तैसे वे उस युवा को अपने निवास पर ले गये। शुद्रकन्या उस युवक की सेवा पतिभाव से करने लगीं। छः मास शीघ्र ही व्यतीत हो गए, जब युवक की चेतना लौटी तो उन पिता तथा पुत्री ने उससे सब वृतान्त कह सुनाया। युवक ने धन्यवाद ज्ञापित करते हुए उस कन्या से वरदान माँगने को कहा। शूद्र युवती ने उसके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रख दिया। युवक असमंजस में पड़ गया अगर वह वरदान न दे तो कृतज्ञता होगी और विवाह करने पर उसके ब्राह्मणत्व की हानि होगी। कुछ देर सोच विचार करने पर उस युवक ने कहा- इस केरल की परम्परा के अनुसार मैं तुमसे तभी विवाह कर सकता हूँ जब मैं ब्राह्मणी, क्षत्राणी तथा वैश्य कन्या से विवाह कर लूँगा, क्या तुम्हें यह स्वीकार्य होगा? युवती इस परम्परा के विषय में जानती थी, अतः उसने युवक का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। युवक ने अपने गाँव पहुँचकर सभी विद्वानों से शास्त्रार्थ किया तथा उन्हें पराजित कर अपने घर में प्रवेश किया। युवक के माता-पिता काल के गाल में समा चुके थे , युवक ने अपना सारा इतिवृत्त कह सुनाया। अपने वंश की रक्षा हेतु वृद्धा ने युवक को केवल एक वृद्धा हीं वहाँ चारों वर्ण की कन्याओं से विवाह की अनुमति दे दी। युवक चूँकि अपना वरदान न भूला था इसलिए उसने शीघ्र ही तीन वर्णों की कन्याओं से विवाह कर लिया। युवक त्रैवर्णिक कन्याओं से विवाह कर अतिशीघ्र ही उस शूद्रकन्या के घर पहुँचा तथा कन्या की इच्छानुरूप उससे विवाह कर लिया। कालचक्र का पहियाँ घूमता रहा। प्रत्येक पत्नी से

उसे एक-एक सन्तान की प्राप्ति हुई। ब्राह्मणवर्ण की पत्नीं से उसे 'वररुचि' नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जो आगे चलकर बड़ा प्रसिद्ध वैयाकरण तथा संस्कृत का कवि हुआ। उनके ग्रंथ 'प्रकृतप्रकाशम' तथा 'धनपंचकम्' अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। अपने पिता की ही भाँति वररुचि ने चारों वर्ण की कन्याओं से विवाह किया, जिससे उन्हें बारह पुत्रों की प्राप्ति हुई। 'परिया' जनजाति के कन्या से विवाह कर उन्होंने परिया जाति के मूलकुल की स्थापना की जिस कारण इन्हें परयी पेट्टु पन्थीकुलम् आदिपिता का अभिधान प्राप्त हुआ। वररुचि की ब्राह्मण पत्नी से उन्हें 'मेलझोथ्थर अग्निहोत्री' नामक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ जिसने आगे चलकर केरल में श्रौत्रयागों का रक्षण किया तथा सौ सोमयाग किये। क्षत्रियवर्ण की पत्नी से युवक को 'विक्रमादित्य' नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जो आगे चलकर उज्जैन का प्रसिद्ध राजा हुआ। विक्रमादित्य बाल्यकाल से निडर तथा महावीर था। उसने केरल देश में 'भद्रकाली उपासना' तथा 'कालरीं' का प्रचलन किया। आज भी केरल के क्षत्रिय तथा नायरवर्ग के जनों में इन दोनों का प्रचलन है। वैश्यवर्ण की पत्नी से उसे भट्टी नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसने आगे चलकर प्रसिद्ध भट्टिकाव्य की रचना की। शूद्रवर्ण की पत्नी से उसे भर्तृहरि नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसने आगे चलकर शतकत्रय की रचना की। इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में भर्तृहरि के जीवन का वर्णन प्राप्त होता है। भर्तृहरि के जीवन के विषय में दो प्रकार के वर्णन प्राप्त होते है। प्रथम वर्णन के अनुसार भर्तृहरि का आरम्भिक जीवन केरल में व्यतित हुआ। वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे तथा अपने संस्कृत काव्यों तथा व्याकरण के 'स्फोटसिद्धान्त' के कारण केरल में प्रसिद्धी को प्राप्त हुए। युवा अवस्था में ही विरक्ति को प्राप्त कर इन्होंने संन्यास ग्रहण कर अपने जीवन का उत्तरार्ध चिदम्बर के पूर्व गोपुर के पास किसी स्थान पर आध्यात्मिक साधना करते हुए व्यतीत किया। पट्टलनाथु पिल्लई इनके गुरु थे, जिनके द्वारा इन्हें दीक्षा दी गई थीं। कालान्तर में इनके देहावसान के पश्चात वहां के राजपरिवार ने इनके समाधिस्थल पर मंदिर समूह का निर्माण करवाया तथा उसमें इनके विषय में शिलालेख उत्कीर्ण करवाया जो आज भी वहीं पर मौजूद है तथा भर्तृहरि के जीवन में हुई घटनाओं का साक्ष्य दे रहे हैं। 20 दूसरे वर्णन के अनुसार वे अपने ग्राम के 'तम्बुरान्' थे तथा लोकप्रशासन के इसी काल में इन्होंने नीतिशतक की रचना की, कालान्तर में इनका विवाह हुआ। भर्तृहरि की अपनी पत्नि पर अत्यन्त आसक्ति थी, इसी की पराकाष्ठा में उन्होंने श्रृंगारशतक की रचना की। भर्तृहरि अपनी भार्या के परपुरुषगमन से क्षुब्ध होकर युवावस्था में ही सन्यास धारण करने का संकल्प कर चिदम्बरनगर की ओर प्रस्थान कर गये। चिदंबरम् में इनकी भेंट पट्टलनाथु पिल्लाई नामक सिद्ध पुरुष से हुई। पट्टलनाथु पिल्लाई ने भर्तृहरि की अनेक बार परीक्षा ली, अन्ततः सन्तुष्ट होकर इन्हें दीक्षा दे दी। संन्यस्त भर्तृहरि ने अपना शेष जीवन चिदंबरम् के पूर्वी गोपुर के बाहर एकान्त स्थल पर व्यतीत किया। यहीं पर इनके द्वारा वैराग्यशतक की रचना की गई। इनके देहावसान के पश्चात् वहां के राजपरिवार ने इनकी समाधि पर मंदिर समूह का निर्माण करवाया तथा इनके जीवन संबंधी घटनाओं का उल्लेख उत्कीर्ण करवाया। इस प्रकार विभिन्न अनुश्रुतियों में हम देखते हैं भारतीय जनमानस के मस्तिष्क पर भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य नें कितना गहरा प्रभाव डाला है। उभय भ्राताओं के विषय में प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी अनुश्रुतियाँ एवं इतिहास भर्तृहरि भारत का वह महान योगी है जो सहस्रों वर्षों से वैराग्य का अलख इस भुमि पर जगा रहा है। शकान्तकारी सम्राट विक्रमादित्य भारतीय जनमानस के हृदय सम्राट है जिन्हें प्रत्येक भारतीय ने अपने हृदय सिंहासन पर आरूढ़ कर रखा है। भर्तृहरि एवं विक्रमादित्य चिरस्मरयीण पुण्यपुरुष है जिनकी गौरवगाथा से भारतभूमि सदैव अनुगुंजायमान रहेगी। ■

1. कल्हण, राजतरंगिणी, 3 124-264
2. तत्रानेहस्युज्जयिन्या श्रीमान्वर्षापराभिघः। एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत्।। रा.त.3.125
3. मलेच्छोच्छेदाय वसुधा हरेरवतरिष्यतः। शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृतः।। रा.त.3.128
4. मातृगुप्त का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में कविवर हरिषेण नें किया हैं।
5. मातृमुप्तो जयति यः कविराजो न केवलम्। कश्मीरराजोप्यभवत् सरस्वतीप्रसादतः।।
6. पुन्ने वाससहस्से संयमि वरिसाण नवनवइ अहिए। होही कुमरनरिन्दो तुह विक्कमराय सारिच्छो कुच.32 मुलग्रन्ध अब अप्राप्य है, परन्तु चीनी अनुवाद एवं उसका आंग्लानुवाद उपलब्ध हैं।
7. Takakusuj, The Life of Vasubandhu by Paramartha, Page283-286
8. मुण्डी. बा.ना.प्राचीन उज्जैन के इतिहास की खोई कड़ियाँ, पू3
9. Biruni Muhammad ibn Ahmad, Alberuni's India(Vol.1), Page 189
10. Biruni, Muhammad ibn Ahmad, Alberuni's India (Vol. 2), Page 5-7
11. योगिराज, क्षिप्रानाथ, देवमालावंशावली, गोरक्षग्रन्थमाला पुष्प सं.88. पृ.17-19
12. राधाशुल्के पंचम्यां ब्राह्मे वृद्वौ रवौ दिवा नाभिकुण्डद्वारा जन्मसंसारे प्रख्यातः। जातस्य त्रिभागीकृत्य द्विभागलोपः शिरभागस्य विक्रम बालको जा।।ने भा.व. पृ.60
13. श्रीमेयप्पन के साथ फोन पर संवाद में यह जानकारी प्राप्त हुई।
14. Karuppiah, Pazha, Pattinathar Oru Pavai, (Tamil Edition) Page 7-9
15. Sankunni, Kottarathil, Aithihyamala, Page 28-35
16. Tbid, Page 35-38
17. भट्ट, सोमदेव, कथासरित्सागर, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, 1852

18. Biruni, Muhammad ibn Ahmad, Alberuni's India, Vol.1 & 2, London, 1910

19. योगिराज,क्षिप्रानाथ,देवमालावंशावली,गोरक्षग्रन्थमाला,पुष्प-88,नेपाल, 1934

20. शास्त्री,शंकरदेव,महाकविसुबन्धुविरचिता वासवदत्ता,बनारस,1954

21. सूरि,जिनविजय,कुमारपालचरित्रसंग्रह,सिन्धीजैनग्रन्थमाला,ग्रन्थांक-41,सुरत, 1956

22. पौडेल, नयनाथ, भाषावंशावली,भाग1, नेपाल, 1964

23. Sircar, D.C., Ancient Malwa And The Vikramadiya Tradition, Delhi, 1969

24. सिंह, रघुनाथ, कल्हणकृतं राजतरंगिणी, दिल्ली, 1970

25. खेमका, राधेश्याम, संक्षिप्त भविष्यपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1992

26. Karuppiah, Pazha, Pattinathar Oru Pavai, (Tamil Edition), Chennai, 2013

27. Sankunni, Kottarathil, Aithihyamala-The Great Legends of Kerala, Kozhikode, Edition 2016

भर्तृहरि और उनका मुक्तक काव्य

• ईशान अवस्थी

भारतीय परम्परा में भर्तृहरि अद्वितीय हैं। उनके स्मारक उत्तर भारत में कई स्थानों पर हैं। उज्जैन की भर्तृहरि गुफा में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर साधना की। चुनार के दुर्ग में भर्तृहरि का प्राचीन मान्य स्थान है। गंगा के तट पर तपस्या करने की भर्तृहरि की चाह वैराग्य शतक में बार-बार प्रकट हुई है और चुनार गंगा के तट पर है। उज्जैन राजा भर्तृहरि की राजधानी थी। यहीं उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और तपस्या की। वह स्थान आज भी विद्यमान है। वह क्षेत्र रेवेन्यू में भीतरी (भर्तृहरि) ग्राम नाम से आज भी दर्ज है। उत्तर प्रदेश में भी भीतरी ग्राम से स्कन्दगुप्त का लेख मिला है। अलवर जिले के सुरक्षित वन में सरिस्का स्थान पर भर्तृहरि की समाधि है जहाँ पर मेला लगता है। अजमेर के पास रातइँडा में भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित वैराग पंथ का प्रमुख धूणा है। राजा जोगी बने भर्तृहरि के रचे प्राचीन पद्य, भर्तृहरि सम्बन्धी गीत, कथाएँ, लोकनाट्य विभिन्न भाषाओं में पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में पाये जाते हैं और गाँव - गाँव के जन-जन की जबान पर भरथरी का नाम चढ़ा हुआ है। भारतीय परम्परा में उस जैसा प्रसिद्ध और लोकप्रिय अन्य नहीं। राजा होकर भी बाद में मालवा का राजा पीपा रामानन्द का शिष्य बनकर संत हो गया था। कबीर के समकालीन इस संत ने वह प्रसिद्धि नहीं पायी। परन्तु भर्तृहरि की प्रशस्ति तो लगभग उन्हीं दिनों का जायसी अपने पद्मावत में अनेक बार करते हुए अघाता नहीं हैं।

लोक परंपरानुसार भर्तृहरि ने अमृतफल खाया था और वह सचमुच अमर हो गया। एक और वैयाकरण या कवि के रूप में भर्तृहरि संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन बताया जाता है। विक्रम के अग्रज परमार राजा भर्तृहरि को हरि, हरिराज, हरिवृषभ नाम से भी पुकारा गया। हरि विक्रम का समकालीन कवि था, गाहासत्तसई का एक गाथाकार था, महाभाष्य के. टीकाकार भर्तृहरि को भी हरि कहा गया है, वैयाकरण और वाक्यपदीयकार भी भर्तृहरि और हरि दोनों नाम से पुकारा गया है। महाभाष्य की टीका का वह प्रवर्तक है। वाक्यपदीय की रचना करके व्याकरण के शब्द दर्शन पर आधारित स्फोट दर्शन का वह प्रवर्तक है। नीति, श्रृंगार और वैराग्य तीनों शतकों की रचना करके भर्तृहरि ने संस्कृत शतक परम्परा प्रारंभ की। राजा से जोगी होकर

लोक द्वारा अपनाये गये एक संत के रूप में उसने जो परम्परा आरम्भ की उसका लोक अनुसरण तो प्रचुर मात्रा में होता रहा।राजा भर्तृहरि का रानी से अगाध प्रेम और फिर राजा का मोह तथा वैराग्य सम्बन्धी कहानी सर्वाधिक प्रसिद्ध है। पिंगला एक गणिका पौराणिक का नाम भी है। भगवत् कृपा से उसका उद्धार हो गया था। उज्जैन के 84 महादेवों में से एक तथा पंचेशानी (पंचक्रोशी) यात्रा का पहला पड़ाव पिंगलेश्वर महादेव है। उसमें भी पिंगला है और वहाँ से बहकर शिप्रा में संगम करने वाला पिंगल्या या पील्या खाल (बड़ा नाला) भी है। संगम पर वह खगर्ता या स्वर्गता संगम कहलाता है। विक्रम संवत् के आरम्भ के आसपास के ब्रह्मयामल के जयद्रथयामल भाग में पिंगलामत है। यह तांत्रिक ग्रन्थ है। यह मत्स्यपुराण से प्राचीन बताया जाता है। इसमें सन्ध्य भाषा या दोहरी भाषा की चर्चा है। इसमें शिव व्यंग्य और शक्ति व्यंजिका बतायी गयी है। पिंगलामत के प्रतिमाधिकरण का प्रभाव मेघदूत पर बताया जाता है। छन्दसूत्रकार का नाम भी पिंगल नाग बताया जाता है। उनका पैंगल (छन्द) सूत्र प्रसिद्ध है। पिंगलामत के सन्दर्भ में योग में ईडा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों की चर्चा महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है कि इस पिंगला नाड़ी के नामकरण में उस पिंगलामत का किस प्रकार सहकार है। दोनों ही प्राचीन तांत्रिक यौगिक प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं। पिंगला के इस अभिनव चिन्तन प्रयोग के कारण भी सम्भवतः भर्तृहरि उससे प्रभावित रहे हों और प्रतीक रूप में पूर्वोक्त अमरफल की कथा लोक प्रचलित हो गयी हो,क्योंकि भर्तृहरि रस (पारा) सिद्ध कवि रसायन वैज्ञानिक भी था। पिंगला तथा भर्तृहरि के अन्वेषण ने अमरता का रहस्य (अमृतफल) पा लिया और उसका सेवन कर वे भारतीय वातावरण में अमर हैं। अभी इस रहस्य की कुछ कड़ियाँ ही उजागर हो पा रही हैं। तो भी एक और मजबूत पुरातत्त्वीय कड़ी सहयोग कर सकती है। भर्तृहरि, नवनाथों में गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की महत्ता सर्वज्ञात है। उज्जैन में राजा भर्तृहरि योग गुफा और मत्स्येन्द्रनाथ का समाधिस्थल शिप्रातट पर है। दोनों राजा थे मत्स्येन्द्रनाथ ने कौल मत का प्रवर्तन भी किया था। इसकी रहस्यभरी तांत्रिक क्रियाएँ गूढ़ रहीं। ये मत्स्येन्द्रनाथ राजा थे। इनके कई पुत्र थे। पुत्रों ने भी कौलमत के विभिन्न पंथों का प्रर्वतन किया। ये नाथसिद्ध अलौकिक चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध थे। कालिदास-साहित्य में भी गगनचर सिद्धों की चर्चा है। ईसवी पूर्व प्रथम द्वितीय शती की ब्राह्मी लिपि में अंकित 'मसतन्द' नाम वाले दो सिक्के प्रकाशित हैं। इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूपान्तर रहेगा- मत्स्येन्द्र। पहले कहा गया है कि मत्स्येन्द्र राजा था। अतः उसके नाम से मुद्रा प्राप्त होना असम्भव नहीं है। इस मुद्रा के सन्दर्भ में बिना पूर्वाग्रह के विचार किया जाए तो भर्तृहरि भी उस युग के उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य युगीन सिद्ध हो जाते हैं जिसकी कई मुद्राएँ और सिक्के तथा शिलालेख प्राप्त हो चुके हैं। उज्जैन के राजा भरथरी को कौन नहीं जानता है ? शहर और गाँव का हर आदमी इस नाम से परिचित है। भरथरी का सही नाम भर्तृहरि था। भर्तृहरि शब्द का अर्थ होता है, स्वामी विष्णु कथा। कहानियों में इन्हें राजा विक्रमादित्य का बड़ा भाई बताया गया है। भर्तृहरि ने बारह वर्ष तक राज्य किया था। इनकी रानी का नाम पिंगला था। किसी कारण राजा के हृदय में बैराग उपजा, परिवार से उनका चित्त उचट गया और वे राज्य अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को सौंप कर बैरागी हो गये। अपनी कठोर तपस्या के कारण वे सिद्ध हो गये। इसीलिए उनकी गिनती प्रमुख नौ नाथों में भी की जाने लगी। भर्तृहरि ने नाथों का बैराग पंथ चलाया। भारत में कई जगह तपस्या की, साधना की। इसीलिए देश में जगह-जगह भर्तृहरि गुफा मिल जाती है। उज्जैन की भरथरी गुफा भी ऐसी ही एक प्रसिद्ध गुफा है। यह गुफा लगभग हजार साल पुरानी है। यहाँ भर्तृहरि ने अपनी साधना शुरू की थी। ओंकारेश्वर, हरिद्वार, गिरनार चुनार और दक्षिण भारत के कई स्थानों पर भर्तृहरि गुफा या उनके नाम से सम्बन्धित चिह्न मिल जाते हैं।

अलवर जिले के सरिस्का में भरथरी की समाधि भी मिलती है। यहाँ वैशाख और भाद्रपद में मेले भी लगते हैं। कहते हैं कि भाद्रपद में भरथरी वैरागी बने थे और वैशाख में काव्य लिखना शुरू किया था। भर्तृहरि को गंगा का तट और शिव की भक्ति सबसे अच्छी लगती थी। भर्तृहरि के तीन शतक काव्य प्रसिद्ध हैं - नीति शतक, श्रृंगार शतक और वैराग्य शतक। हर शतक में एक सौ श्लोक हैं। इस प्रकार कुल तीन सौ श्लोक है। इनसे पहले कोई शतक काव्य शायद ही लिखा गया हो। इस प्रकार शतक काव्य का आरम्भ ही भर्तृहरि ने किया है। इस काव्य का हर श्लोक स्वतंत्र है। ऐसा काव्य मुक्तक कहलाता है। भर्तृहरि का हर श्लोक रसपूर्ण

और मनोहर होता है। इसीलिए कहते हैं कि भर्तृहरि-शतक का हर श्लोक एक महाकाव्य के बराबर है। उदाहरण के लिए मित्रता के बारे में कवि कहता है कि अच्छे लोगों की दोस्ती दूध और पानी के समान है। जैसे ही दूध और पानी मिलते हैं, दूध पानी को अपना रंग और अपनी मधुरता दे देता है, जिससे पानी भी दूध जैसा दिखाई देने लगता है और दूध को जब गर्म करने के लिए आग पर रखा जाता है तब मित्रता निभाने के लिए सबसे पहले पानी स्वयं को जला डालता है। अपने मित्र पानी को जलता देख दूध स्वयं को रोक नहीं पाता और वह भी अपने आपको आग में जला डालने को, उफनने लगता है, परन्तु जैसे ही उसके मित्र जल को उसमें डाला जाता है, मित्र मिलने से प्रसन्न होकर वह शान्त हो जाता है। दोस्ती, हो तो दूध और पानी जैसी होनी चाहिए। भर्तृहरि के काव्य के शब्द-शब्द में ऐसे ही उपयोगी अच्छे विचार भरे हुए हैं। भर्तृहरि ने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं। संस्कृत, व्याकरण, दर्शन से सम्बन्धित उनकी इन पुस्तकों में से "वाक्य-पदीय" को विद्वान् अधिक चाहते हैं। इसमें बताया गया है कि दर्शनों में कही गयी यह बात सही है कि जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ-वहाँ शब्द है। आकाश सब दूर है, इसलिए शब्द भी सब दूर फैले हुए है। यह बात आज हम रेडियो, दूरदर्शन के उदाहरण से जान सकते हैं। उसी समय सुन सकते हैं। ये शब्द आकाश के द्वारा ही हमारे रेडियो तक पहुँचते हैं और रेडियो उन शब्दों को पकड़कर हमें सुना देता है। भर्तृहरि ने बताया है कि शब्द की शक्ति के बराबर दूसरी ताकत नहीं है। शब्द और अर्थ की शक्ति को उन्होंने पहली बार पहचाना और संसार को बताया । इसीलिए बाद के सभी विद्वान उनकी इस "वाक्यपदीय" की बार-बार याद करते रहते हैं। भर्तृहरि राजा होते हुए भी गरीबों के प्रति दयालु थे, क्योंकि उन्होंने जीवन का अधिक समय साधु बन कर गरीबों के साथ बिताया। इसीलिए भरथरी पर गाये जाने वाले गीत सारे भारत की बोलियों में, गाँव-गाँव में सुने जा सकते हैं। भर्तृहरि को विद्वान् भी चाहते हैं और सामान्य भी। ऐसा संस्कृत कवि भारत में और कोई नहीं हुआ। भारतीय अतीत जिन विभूतियों के कारण भास्वर हुआ है उनमें भर्तृहरि का नाम अग्रणी है। उनसे सम्बन्धित कथा - कहानियाँ लोक अनजाने काल से प्रचलित हैं। उनके साहित्य में लोक व्याप गया और लोक में भर्तृहरि व्याप गये। भर्तृहरि के अतिरिक्त ऐसा कोई संस्कृत कवि नहीं जिसकी धर्मेतर रचनाएँ भी इतनी लोकप्रिय हो। आज भर्तृहरि-शतक सा दूसरा काव्य नहीं जो धार्मिक ग्रन्थों के समान रुचि से पढ़ा जाता हो। भर्तृहरि की लोक में एक लोकप्रिय राजा तथा वैराग्य पथ के प्रवर्तक नाथ साधु के रूप में विशेष ख्याति रही। यही कारण है कि भर्तृहरि पर देश की सभी क्षेत्रीय बोलियों, भाषाओं में जितना और जैसा लिखित-अलिखित कंठ-कंठ में भी संचरित साहित्य मिलता है वह किसी सहृदय को चकित कर सकता है, अभिभूत कर रहा है। विद्वानों में भर्तृहरि की ख्याति उनके सम्बन्धी दार्शनिक ग्रन्थ वाक्यपदीय कारण हैं तो कवियों सहृदयों में वे अपने शतकों के कारण लोकप्रिय हैं। परन्तु जनसाधारण में वे एक राजा और योगी के रूप अधिक विज्ञात विभिन्न बोलियों और भाषाओं में उनके बारे में गीत और कथाएँ प्रचलित हैं। भर्तृहरि लोकनाट्यों और लोक परम्परा में जी रहा है। केरल से कश्मीर, सौराष्ट्र से कामरूप और नेपाल, बांग्लादेश तथा पाकिस्तान तक उस परम्परा के सूत्र फैले हुए हैं।

परिणामतः भारतीय उपमहाद्वीप में कोई ऐसा भाषाई साहित्य नहीं जहाँ भर्तृहरि के बारे में कुछ न कुछ मान्यता, परम्परा या साहित्य न हो। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश में रचा गया, देश की भिन्न-भिन्न परवर्ती भाषाओं में रचा गया साहित्य, विदेशी यात्रियों के ग्रन्थ, लोक साहित्य की परम्परा, नाथ सम्प्रदाय की परम्परा, तत्सम्बन्धी पुरातात्विक अवशेष इत्यादि क्या-क्या नहीं हैं भर्तृहरि के सम्बन्ध में। मध्यकाल में भर्तृहरि निर्वेद नामक नाटक भी भर्तृहरि पर ही लिखा गया है। भर्तृहरि के तीन कालजयी शतक हैं- नीति शतक, श्रृंगार शतक, और वैराग्य शतक। इनमें कहे गये हर श्लोक में प्रायः वही तीखापन है जो बाद में कबीर में रहा। भर्तृहरि ने न केवल पंतजलि के महाभाष्य की टीका लिखी अपितु व्याकरण दर्शन का प्रवर्तक वाक्यपदीय ग्रन्थ भी रचा जिसके आधार पर स्फोट दर्शन अस्तित्व में आ सका। यही वह आकार ग्रन्थ है। जिसका बाद में दार्शनिक, साहित्यशास्त्रीय अथवा व्याकरणशास्त्र का कोई भी ग्रन्थ उपेक्षा नहीं कर सका। राजा भोज के श्रृंगार प्रकाश में तो यह भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्रायः पूरा ग्रन्थ ही उद्धृत हो गया। वाक्यपदीय की काल और दूरी सम्बन्धी अवधारणा इतनी व्यापक और वैज्ञानिक है कि आज भी विदेशी छात्र

इसका अध्ययन करने के लिए भारत यात्रा करते हैं। भर्तृहरि ने अन्य अनेक ग्रन्थ भी रचे थे। लोक परम्परानुसार भर्तृहरि विक्रमादित्य के अग्रज थे और बारह वर्ष उज्जैन में राज्य कर उन्होंने यहीं वैराग्य ग्रहण किया। जहाँ शिप्रातट पर अब भी प्राचीन भर्तृहरि गुफा विद्यमान है। यों तो भर्तृहरि सम्बन्धी स्थान पूरे देश में स्थान-स्थान पर हैं। पर उज्जैन गुफा का महत्व इसलिए है कि यहाँ उन्होंने वैराग्य स्वीकारने के बाद साधना का आरम्भ किया था। इस प्राचीन गुफा में ईसवी पूर्व की ब्राह्मी लिपि में विक्रम कृत आदि नाम नीलकंठेश्वर स्थान पर है। इसमें परमारकालीन स्तम्भ हैं और चौदहवीं शती के दो स्तम्भलेख भी हैं। नाथ परंपरा के अनुसार भर्तृहरि ने भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को वैराग्य ग्रहण किया था और वैशाख शुक्ल अष्टमी को काव्य रचना आरंभ की थी। भर्तृहरि की स्मृति के लिए वैशाख शुक्ल अष्टमी अधिक उचित दिन है। भर्तृहरि शतकों का 1651 ई. में प्रथम बार अब्राहम रोगर ने डच भाषा में अनुवाद किया। इसके बाद में तो अनेक विदेशी भाषाओं में शतकों का अनुवाद हुए। मोहम्मद इकबाल और गोथे भी भरथरी की कविताओं से प्रभावित थे। भारतीय उपमहाद्वीप की भाषाओं में तो भरथरी के उपचार हर धर्म के लोगों में प्रचलित हैं। भरथरी लोक में प्रसिद्ध है। उनके विचार, उनका दर्शन आज भी लोगों का मार्गदर्शन करते है।

आज भी लोक में उनके गीत गाए जाते हैं। पूरे देश की बस्ती-बस्ती में उनके गीतों को नाथ संप्रदाय के लोग बराबर गाते रहते हैं। भरथरी गायन पारंपरिक होता है। मंडलियाँ भरथरी के मधुर गीत प्रस्तुत करती हैं। यह परंपरा उत्तर में भी और दक्षिण में भी है। नौटंकी नाच आदि लोकनाट्य प्रस्तुत किए जाते हैं जिनका लोग रसपान करते हैं। भरथरी वास्तव में लोकनाट्य लोक गीत ही नहीं लोक परंपराओं का केंद्र है। इस दूरी के चारों ओर लोक संस्कृति छाई हुई है। इसीलिए भरथरी का नाम लोक का पर्याय हो गया। लोककलाओं, लोकमंच, लोक परंपराओं, लोक साहित्य, लोकनृत्य, लोकगायन और समग्र रूप से लोक संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन के लिए भर्तृहरि से बढ़कर केन्द्रीय सार्थक नाम नहीं हो सकता। भर्तृहरि हर समय की समकालीन संवेदना के कवि हैं। वे अपनी बेलाग उक्तियों से पाठक का हृदय मथ देते हैं। जन साधारण कि कर्तव्य विमूढ़ता भर्तृहरि के काव्यों में पद पर मिल सकती है। इससे उबरने की तीव्र छटपटाहट के कारण यह कवि आज भी हमे छूता ही नहीं, प्रभावित भी करता है। उनकी मनोदशा में समकालीन वातावरण की प्रतीक्षा भी झलकती है। भर्तृहरि रानी पिंगला की कथा सुप्रचलित है, जिससे कथा जुड़ी हुई है। तदनुसार एक तपस्वी ब्राह्मण को आम्रफल प्राप्त हुआ, तो उसने यह ले जाकर राजा भर्तृहरि को भेंट कर दिया। महावत ने फल ले जाकर अपनी प्रिय गणिका को दे दिया और गणिका ने वह ले जाकर राजा भर्तृहरि को दे दिया। भर्तृहरि उसे देखकर चकित हो गया और फलयात्रा के रहस्य को ज्ञात किया। इससे राजा को संसार से वैराग्य हो गया और वह तपस्वी हो गया। यह श्लोक भर्तृहरि की इस कथा का सच प्रकट करता है।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या धिक् तं च तां च मदनं च इमां च मां च॥

पिंगला नामसाम्य अनेक से है। एक पौराणिक गणिका का नाम भी पिंगला था जिसका उद्धार हुआ था। पिंगला नामक छन्दसूत्रकार प्रसिद्ध है। उज्जैन के 84 महादेवों में से एक का नाम पिंगलेश्वर है। उनकी अपनी पौराणिक कथा स्कन्दपुराण के अवन्ती खण्ड में है। इस तीर्थ से बहने वाली नदी का नाम पिंगला है जिसे पील्या खाल कहते हैं। मानव शरीर में तीन नाडियाँ हैं इडा, पिंगला और सुषुम्ना। पिंगला नाड़ी इस पिंगला से मिलता है। यह दक्षिण नाड़ी है। यह शिवसिद्धान्त है। ब्रह्मयामल के सात पूरक हैं- दौर्वास्य, पैशाच, सारस्वत, जयद्रथ, फेत्कार, रक्ताद्य और लम्पटाद्य ब्रह्मयामल का अंग जयद्रथयामल है। इसके सात सूत्र हैं- सूत्र, उत्तरसूत्र, शक्तिसूत्र, क्रियासूत्र, विमलज्ञान और सर्वसन्दोह। क्रियासूत्र से सम्बन्धित पिंगलामत है। इसमें सान्ध्यभाषा है जिसका दोहरा मतलब होता है। यह अभिप्रायवचन है। मत्स्यपुराण में ये सब तथ्य पाये जाते हैं। कहते हैं मेघदूत पर पिंगलामत के प्रतिमाधिकरण का सीधा प्रभाव है। यदि यह पिंगलामत भर्तृहरि की पत्नी पिंगला के द्वारा प्रवर्तित और उसके नाम पर है तो पूर्वोक्त अमरफल की कथा प्रतीकात्मक हो सकती है। तांत्रिक ग्रन्थ की रचना की उसने और रसायन वेत्ता कवि भर्तृहरि को योग मार्ग पर ले

जाती है। मत्स्येन्द्रनाथ के दो सिक्के ईसवी पूर्व के प्राप्त होते हैं। अतः कौल, नाथ मत के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, भर्तृहरि रहे और तभी यामल परम्परा में पिंगला रही। पिंगला के नाम पर नाड़ी का नाम भी पिंगला रहा। राजा भर्तृहरि की पत्नी का नाम पिंगला था। भारतीय साहित्य में पिंगला के विभिन्न रूप में उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1.एक पिंगल ऋषि वेदवर्णित है। उनसे सम्बन्धी कोई पिंगला थी या नहीं, यह ज्ञात नहीं है।

2-भक्ति से मुक्ति पाने वाली विदेह की गणिका पिंगला के उल्लेख भागवतपुराण और महाभारत में प्राप्त होते हैं।

3-कुमुद नामक दिग्गज की पत्नी का नाम भी पिंगला था।

4-अध्यात्म रामायण (8) के अनुसार अयोध्या की वेश्या पिंगला थी। वही कृष्णावतार के समय कुब्जा हुई।

5-स्कन्दपुराण के अवन्ती खण्ड के चौरासी महादेव विवरण में इक्यासीवें पिंगलेश्वर कथा में कान्यकुब्ज के पिंगल ब्राह्मण की बेटी पिता के साथ तपस्या कर रही थी। उसने अपने पाप नष्ट करने के लिए अवन्ती से एक योजन पूर्व के शिव की पूजा की। वह शिवलिंग पिंगलेश्वर कहलाता है। वहाँ की नदी पिंगला कहलाती है।

6-पिंगल छन्दशास्त्र के आचार्य थे। पिंगला उनके परिवार की हो सकती है। कथानुसार भर्तृहरि शकारि संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का भाई था। पिंगल का छन्दशास्त्र नाट्यशास्त्र के बाद का है। अतः पिंगल भर्तृहरि का समकालीन हो सकता है। तो पिंगल की बहिन पिंगला भर्तृहरि की पत्नी हो सकती है।

7-पिंगलामत (ब्रह्मयामल से सम्बन्ध) तन्त्र की रचना भी पिंगला की हो सकती है। विद्वानों के अनुसार उसका मेघदूत पर प्रभाव है। उसमें सन्ध्या भाषा,शक्तिव्यंजिका और शिव व्यंग्य है। मत्स्यपुराण में भी यही है। तन्त्र की मर्मज्ञ होने के कारण इडा, पिंगला, सुषुम्नादि शरीर की नाड़ी का नाम पिंगला रखा हो सकता है। यह शरीर के दक्षिण भाग की नाड़ी है। यह योग के अन्तर्गत है।

यह सम्भव है कि पिंगलामत की विचारधारा के सन्दर्भ में राजा योगी भर्तृहरि और पिंगला की कथा ने अन्य लोकप्रिय रूप ले लिया हो जो आज लोक में प्रचलित है। यह उल्लेखनीय है कि भर्तृहरि की भारत की नाथपरम्परा में बड़ी मान्यता है। नवनाथों में प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। ईसवी पूर्व प्रथम द्वितीय शती के मत्स्येन्द्र के दो सिक्के प्रकाशित हैं (एच.वी. त्रिवेदी, नागक्वाइंस)। उन पर लिखा है - मसतेन्दय। वे कौल परम्परा के प्रवर्तक थे और उस परम्परा में यह माना जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ एक राजा थे और उनके कई पुत्र थे जिन्होंने कौल धारा को आगे बढ़ाया। आज के इतिहासज्ञ नवनाथों को बहुत बाद का मानते हैं। यह सम्भव है कि पूर्ववर्ती नाथों के नामों को बाद के नाथों ने भी रख लिया हो। इसी प्रकार भर्तृहरि को वैयाकरण परम्परा में हरि या हरिभद्र भी कहा जाता है। (हरिः भर्तृहरिः स्मृतः) । ईसवी पूर्व की लिपि में 'हरिभद्र' लिखित एक मुद्रांक महिदपुर के अश्विनी संग्रहालय में विद्यमान है। यदि यह हरिभद्र भर्तृहरि हो तो उसकी ईसवी पूर्व में स्थिति प्रमाणित हो जाती है। भर्तृहरि गुफा स्थापत्य की दृष्टि से प्राचीन रचना है जिसका समय-समय पर संस्कार होता रहा। उसमें विद्यमान नीलकंठेश्वर महादेव और जलाधारी पर विक्रम, कृत आदि नाम ईसवी पूर्व की लिपि में अंकित है। इससे ज्ञात होता है कि उज्जैन की इस भर्तृहरि गुफा की रचना विक्रमादित्य काल से आरम्भ हो गयी थी। भर्तृहरि के विभिन्न ग्रन्थों की सूची प्राप्त होती है। उनमें से शत्रकत्रय, वृत्ति सहित वाक्यपदीय (आंशिका), महाभाष्य दीपिका तो प्रकाशित है। भागवृत्ति, शब्दधातु समीक्ष के उद्धरण प्राप्त होते हैं। शेष के नाम ज्ञात होते हैं। यथा - वेदान्तसूत्रवृत्ति, मीमांसासूत्रवृत्ति, राहतकाव्य, योगशतक आदि। भर्तृहरि का दिक् काल विवेचन पर विशेष बल है। उज्जैन महाकाल का केन्द्र होने के साथ ही पारम्परिक कालगणना का केन्द्र है। इनसाक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (भाग-15) में कहा गया है - The Secred city of the meridian of AZIN of Arab.

एक मत यह भी पाया जाता है कि विक्रमादिय, भर्तृहरि और कालिदास में ऐसी गाढ़ी मित्रता थी कि वे परस्पर काव्य विनियोग भी करते रहते थे। इसीलिए भर्तृहरि शतक और कालिदास-साहित्य के कुछ श्लोकों में समानता है। वे इस प्रकार हैं-

(1)

मेघदूत-ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

भर्तृहरि- जघनमरुणरत्नग्रन्थिकांचीकलापं कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः। (श्रृंगारशतक)

(2)

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः (भर्तृहरि और शाकुन्तल)

(3)

अनाघ्रातं पुष्पं. (भर्तृहरि और शाकुन्तल)

भर्तृहरि राजा से योगी बना। यह कथा प्रसिद्ध है। वह वैयाकरण,दार्शनिक था। यह भी वाक्यपदीय से स्पष्ट होता है। बहुधा विद्वान् कवि, दार्शनिक वैयाकरण को अभिन्न मानते हैं। किसी राजा, योगी का दार्शनिक, कवि होना आज तक पाया जाता है। अतः एक ही भर्तृहरि की ये विभिन्न विशेषताएँ होना सम्भव है। भर्तृहरि के नाम से प्रकाशित एक श्लोक में वह मालव मण्डल की इसलिए प्रशंसा करता है कि यहाँ के लोगों में धर्म के प्रति अनुराग है।

धन्ये मालवमण्डलो क्षितितले लोकस्य धर्मे रतिः।

कल्चरल हेरिटेज (भाग - 4) में जो विवरण प्राप्त होता है तदनुसार पिंगला का पिंगलामत प्राचीन है। उसके अनुसार तंत्र पहले शिव ने बनाया। फिर परम्परा से आया। यह आगम है जो छन्दों जैसा है। पिंगलामत जयद्रथ के क्रियासूत्र से सम्बद्ध है। नेपाल में हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रति 1174 ई. की है। उसका कर्ता श्रीकण्ठनाथ था। उसका शिष्य लकुलीश या कुलीश है। कुलीश का उल्लेख पतंजलि ने भी किया। पिंगलमत के अनुसार जयद्रथयामल 24 हजार श्लोकों का है। वह ब्रह्मयामल का परिशिष्ट है। कम्बोडिया में वह नौवीं सदी में विद्यमान था। पिंगला के दो भाग थे। गोपीचन्द्र भर्तृहरि की बहन मदनावती (मयनामती) के पुत्र थे। गोपीचन्द्र की बहन चम्पादेई बंगाल के राजा की रानी थी। मयनामती भी बंगाल के राजा की रानी थी। गोपीचन्द की दो पत्नियाँ थी- अदुना और पदुना। इस मयनावती का भाई भर्तृहरि जालन्धरि का अनुयायी था। बंगाल के योगीपन्थी, गोपीचन्द के गीत सारे भारत में प्रसिद्ध हैं। भारत के उत्तर पश्चिम में वे भर्तृहरि के गीत कहलाते हैं। पतिव्रता पिंगला के पति का नाम भर्तृहरि था। जयद्रथ यामल और पिंगलामत ब्रह्मयामल के पूरक कहे जाते हैं। पिंगलामत ने इससे सम्बन्धी दो प्रमुख प्रकार बताये-कामरूपी (आसामी) और उड्डीयानी (उड़ीसी)। जयद्रथ के सात सूत्र हैं- सूत्र, उत्तरसूत्र, शक्तिसूत्र, क्रियासूत्र, विमलज्ञान, सर्वसन्दोह। पिंगलमत इसमें से क्रियासूत्र से सम्बन्धी है। पिंगलमत ने ब्रह्मयामल के सात पूरकों की अलग सूची दी है- दौर्वास्य, पैचिक, सारस्वतमत, जयद्रथ, फेत्कार, रक्ताद्य, लम्पटाद्य। जातकर्ण्य ने निरुक्त सहित अपनी संहिता इन्हें दी। बलाक, पैज, वैताल, विरजा कवि नारायण ने मछिंद नाम धारण किया। हरि ने गोरक्ष, अन्तरिक्ष जालन्धर, प्रबुद्ध ने कनिफ, पिघलायन ने चर्पट, हविर्होत्र ने नागेश, द्रुमिल ने भर्तृहरि, चमस ने रेवण, करभंजन ने गहिनी नाम धारण किया। ■

लोक गाथाओं के सरताज महाराजा विक्रमादित्य

• डॉ. पूरन सहगल

लोक की प्रामाणिकता तो सर्वमान्य है। वह सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान, निर्गुण-सगुण है। लोक साहित्य उसकी व्यापकता का गुणगायक है और भाषा उसकी प्रवक्ता। घटना से कथा बनती है और कथा गेय होकर गाथा का रूप ग्रहण कर लेती है। गाथा में महाकाव्य के बीज निहित रहते हैं। लोक गायक लोक के परम आराधक और गुणगायक होते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी, कंठ दर कंठ ये लोक गायक लोक में घटित घटनाओं का वर्णन अपने सुर ताल और कंठ माधुरी से करते हुए अपनी लोकाधारना करते रहते हैं। उनका लोक वाद्य रणत्या या सारंगी, मांदल, ढोल, कुंडी, हुंकारणी, चंग, तारपी, पावरी, टापरा आदि। अलग-अलग जातिवर्ग के अलग-अलग वाद्य होते हैं। इनमें कुछ ध्वनि वाद्य इनमें घुंघरू, चूड़ियाँ, रमणेल, झालर, मंजीरा, मटका आदि प्रमुख हैं। घेरावाद्यों में कुंडी, तासा, खंजरी, ढीबका, ढोलक, मांदल आदि प्रमुख माने जाते हैं। फूंकवाद्यों में बाँसुरी, नड़, अलगोजा,तारपी, पुंगी, पावरी, तुरही विशेष रूप से मानी जा सकती हैं। तारवाद्यों में चिंकारा, रणत्या (रावणहत्था) कमायचा, सुरिंदा, सारंगी आदि प्रमुखता से जाने जाते हैं। लोक कथा गाथा मुख्यतः पारंपरिक आधार के परिप्रेक्ष्य में भारतीय लोक दर्शन को सहजता से अभिव्यक्त करने का एक सहज वक्तव्य है। वह गेय होकर मनोरंजन करता है तथा कथा रूप में (गद्य रूप में भी मन को एकरसता प्रदान करने में सक्षम रहता है। इसी वाचिक एवं लिखित लोक साहित्य को जब हम आख्यान कहने लगते हैं तब उसमें ब्रह्म जीव, आत्मा, मन इंद्रियों, कर्म, कर्मफल, भाग्य तथा जन्म-मृत्यु, पुनर्जन्म एवं सृष्टि के स्थूल-सूक्ष्म आदि से संबंधित जिज्ञासाओं के प्रश्नों की व्याख्या होने के सूत्रों का ज्ञान-भान होने लगता है। वस्तुतः आख्यान का अर्थ ही होता है किसी घटित कथा का प्रस्तुतिकरण करना, कहना या कहकर सुनाना। वस्तुतः इन लोकाख्यानों में और गाथाओं में अपने समय की घटनाओं का जीता जागता वर्णन होता है। उसमें जहाँ लोकरंजन होता है, वहीं लोक परंपराएँ लोक संस्कृति और इतिहास के सूत्र भी निहित रहते हैं। इन गाथाओं से जहाँ हमें इतिहास, भूगोल, संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा, खानपान, लोक परंपराओं का बोध हो जाता है वहीं उस समय के लोक नायकों और लोक आस्थाओं के विषय में भी प्रामाणिक जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन गाथाओं से हमें तत्कालीन इतिहास का बोध तो होता ही है वहीं हमें लोक संस्कृति का भी बोध हो जाता है।

ये गाथाएँ हमें अपने अतीत और प्रतीत का सेतुबंध बनाने में सहायक होती हैं। इन गाथाओं में किंवदंतियों में, कथाओं और गीतों में धर्म-संस्कृति, मिथक भी समाहित होते हैं। इतिहासकार यदि थोड़ा सा प्रयत्न करें तो इस अबूझ को बूझ कर इतिहास का बोध कर सकता है। इस प्रकार लोक की यह वाचिक परंपरा हमें शोध सर्वेषण की प्रेरणा देती है। इन गाथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि इनका सृजन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं किया जाकर समूहगत रूप से किया जाता है। इनमें नाम होकर भी वह परंपरा से अपना विशाल रूप ग्रहण कर लेती है। वह सरोवर से सागर बन जाती है। जब कोई इसे कंठ से कागज पर लाता है तब तक तो वह कई पड़ाव पार कर चुकी होती हैं। इसकी अभिव्यक्ति का कौशल भावों, मिथकों और विभिन्न बोलियों में व्याप्त होता है। प्रत्येक अंचल में जब तक गाथा पहुँचती है तब तक उस अंचल की सांस्कृतिक परंपराएँ, लोक मान्यताएँ, लोक बोली की क्षमता और देश काल की समस्याओं को भी ग्रहण कर अपना आँचल बढ़ा लेती है। मैंने एक जगह कहा है- लोक साहित्य के पैर नहीं होते पंख होते हैं। वह अपने पंखों से अनेक यात्राएँ करता है। वह जहाँ भी पड़ाव डालता है वहाँ से बहुत कुछ जोड़ लाता है तथा बहुत कुछ छोड़ भी आता है। वह प्राचीन होकर भी सदा नवीन बना रहता है। लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता ही उसका मौखिक होना है। इसमें परिवर्तन स्वाभाविक होता है। यह ही इसकी पहचान भी है। यह अपनी वाचिक परंपरा से अपनी रंजक अभिव्यक्ति के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन समरसता का निर्माण करती है। इसमें लोच, लय के अतिरिक्त स्वरूप परिवर्तन की अद्भुत शक्ति होती है। यह गाथा साहित्य हमारे लोक पुरुषों का चरित्र चित्रण कर उन्हें धन्यता प्रदान करता है। उन्हें मरने नहीं देता। वास्तविक मृत्यु की देह समाप्त होने पर नहीं होती उसका नाम समाप्त होने पर होती है। यह गाथा साहित्य अपने नायक का नाम सदा जीवित बनाए रखने के लिए पूरे लोक में उसका कीर्तिगान कर उसे जीवित बनाए रखता है।

(1)

महाराजा विक्रमादित्य इसीलिए लगभग अढ़ाई हजार वर्षों के बाद भी जीवित हैं। उनका नाम अमर है। यश अमर है। इन्हीं लोक गाथा गायकों और कथा कथक्कड़ों ने विक्रमादित्य के विक्रम का आदित्य अस्त नहीं होने दिया गाया-

विक्रम री जस कीर्ति, जगमग पार-अपार ।

गीत कथा गाथा सबै पऊँची समदर पार।। (1)

इसी बात को एक गाथा कहती है-

जतरे सूरज चन्द्रमों, धरा सेस रे माथ।

अतरे तो रेहसी अमर, विक्रम री यह गाथ ।। (2)

जब तक सूर्य चन्द्रमा कायम है। जब तक पृथ्वी शेष के शीश पर स्थित होकर सलामत है। तब तक विक्रमादित्य की यह गाथा अर्थात यश कीर्ति अवश्य जीवित बनी रहेगी।

इसी भाव को एक पंजाबी लोक गाथा कहती है-

विक्रम खुद विक्रम जियां उस जियां नहीं होर।

विक्रम दी एह वारता, रहसी नवीं नकोर।। (3)

विक्रम जैसा तो केवल विक्रम ही है। वैसा कोई दूसरा नहीं हुआ। विक्रमादित्य की यह वार्ता नित नवीन बनी रहेगी

एक और पंजाबी लोक गाथा कहती है-

चली चली दा गेला वस्ती, अज गिया कोई जासी कल।

रह गए किस्से, गल कहाणियाँ साल गुजर गए जीवें पल ।।

कितने राजे-राज गुजर गए, चंगे, माड़े, भलो-भल ।

ना नई मिटदा कदां उन्हां दा जिन्हां कीते मसले हल।

दो नां कदां न मिट सकनगे, राजा विक्रम भोज सचल ।। (4)

चौमासा के अंक 104 जुलाई-अक्टू. 2017 में उद्धृत है- कि "जन नायक विक्रमादित्य एक शासक के साथ ही अत्यंत उदार चरित्र के धनी थे। जिसके कारण लोक में उनके व्यक्तित्व और गुणों को मिथकीय रूप प्रदान करने का काम सदियों से लोकजनों ने किया है।"

एक शासक के दृष्टि की समग्रता का अनुभव उनके साथ सम्बद्ध कथाओं, गाथाओं, मिथकों और घटनाओं/कल्पनाओं से सहज किया जा सकता है। यही कारण रहा है कि विक्रमादित्य का यश समुद्र पार तक विस्तीर्ण हो गया। यह लोक व्याप्ति की बहुत बड़ी सफलता है। यही बात एक पंजाबी लोक गाथा कहती है-

सात समंदर पार तई नाम इन्हां दा खिंडिया।

वस्ती राम एह वारत लिखके, फरज निभाया जिंडिया।। (5)

जिनका नाम सात समुद्र पार तक विस्तीर्ण है। वस्तीराम ने उन्हीं की कीर्ति लिखकर अपना फर्ज निभाया है।

एक मालवी लोक गाथा महाराजा विक्रमादित्य का यश बखान करती हुई कह रही है-

विक्रम रो जस देस में, चारी खूँट बखान।

बंदीजन कवियां कर्यो, बढ़-चढ़ ने गुणगान ।।

कर्णाटक ती चालतां, हिमालय कश्मीर।

विक्रम ने रण धज कहे, कोई कोई केहवे पीर।।

घणा जणा दानी कहे, कोई केहवे रणधीर ।

कोई केवे न्याय धणी, कोई केहवे सतवीर ।।

ब्रह्म लोक में बेठतां सुरसत गावे गान।

नारद जी नतदन करें, विक्रम रो गुणगान ।।

एसो राजो विस्व में, भणयो-सुण्यो राम ।

उज्जैनी में जाण्यो, विक्रम रो गुणगान ।।

कथा गाथा और वारता, अणगण गीत सुगीत।

माच भुवाई रच लिया, खेला सज संगीत।।

धन्न-धन्न धरती वई, दे विक्रम अवतार।

जै-जै माता हरसिद्धां, जै-जै-जै महाकार।। (6)

(2)

विक्रमादित्य का यश देश में चारों खूब बखाना जाता है। बंदीजनों और कवियों ने खूब बढ़-चढ़ कर उनका गुणगान किया है। कर्नाटक से चलकर कश्मीर हिमालय तक कोई उन्हें रणध्वज कहता है, कोई उन्हें पीर कहता है, कोई उन्हें न्यायप्रिय तो कोई सत्यवादी कहकर बखानता है। यहाँ तक कि, ब्रह्मलोक में बैठी सरस्वती उनका गुणगान करती है। नारद जी नित दिन विक्रमादित्य का गुणगान करते रहते हैं। ऐसा राजा विश्व में केवल राम ही सुना था। या तो अयोध्या में राम हुए या फिर उज्जयिनी में विक्रमादित्य हुए। उनके दिव्य चरित्र को बखनाने के लिए अनगिनत कथाएँ, गाथाएँ, वार्ताएँ और गीत रचे गए हैं। अनेक नाट्यकारों ने उनके चरित्र को मंचित करने के लिए माच भुवाई के खेलों की रचना की और उनका यशगान किया। यह धरती धन्य है जिसने विक्रमादित्य जैसे दिव्य पुरुष को जन्म दिया। माता हरसिद्धि और महाकाल की जय-जयकार।

ऐसा ही एक और मालवी गाथा कहती है-

आज तलक होयो नहीं, विक्रम जेसो वीर।

जुद्ध नीति अर न्याय में, हरदम राखी धीर।।

कै तो होया राम जी, के तपया विक्रमदीत।

टेक सदा राखी अटल, राज कर्यो सुध रीत।। (7)

आज तक धरती पर विक्रमादित्य जैसा वीर पैदा नहीं हुआ। वे युद्ध नीति और न्याय निष्ठा में अत्यंत धैर्यवान थे। ऐसे राजा या तो रामजी हुए या फिर विक्रमादित्य हुए। दोनों ने सदा धर्म, न्याय, वचन का धैर्यपूर्वक पालन किया और अत्यंत सुधिपूर्वक अपना राज्य चला कर प्रजा का पालन किया। ऊपर मैंने जिस पंजाबी लोक गाथा का वर्णन किया है वह वर्तमान भारतीय पंजाब के अंचल की नहीं है। वह तो उस अंचल की है जो अब पाकिस्तान कहलाता है। यदि कहूँ तो लाहौर से भी ऊपर, मुलतान से भी ऊपर मियांवली जिले में कही गई थी। क्या विक्रमादित्य की यशकीर्ति की कथा-गाथा पंजाब के उस अंतिम छोर और पख्तूनिस्तान के निकट तक पहुँच जाना इस गाथा की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर देता? हो सकता है इसके कुछ अंश किसी अन्य मालवी गाथा से मेल खाते हों तब भी यह अत्यंत गौरव की बात कहना होगी कि, महाराजा विक्रमादित्य का यश वहाँ सुदूर भारत में पहुँचा। माध्यम कोई भी रहा हो। पश्चिम में उतरता सूरज जब पर्वत श्रृंखलाओं की ओट लेकर क्षितिज में डूबता है। आकाश तिमिराच्छिन्न होने लगता है, दक्षिण-पश्चिमी हवा शीतलता बिखेरती हुई दिन-भर से तपती चट्टानों और पर्वत श्रृंखलाओं को शीतल बनाती है। अगली प्रभात पूरे अंचल में फैली हजारों टन वजनी विशाल फलकों वाली चट्टानों, उनमें उभरे शैलाश्रय, जिनमें धातुराग से बनी नयनाभिराम चित्रावलियाँ, प्राग्मानव के हृदय में उठती संयोग वियोग की साक्षी जीवन संघर्ष व रोमांच को ये कालजयी कथा-गाथाएँ व्यक्त करती हैं। ये सब अबोली कथा-गाथाएँ लोक और पुराइतिहास के ग्रंथों के पन्नों पर दर्ज हुई हैं। अनेक घटनाएँ घटी। घटनाओं ने कथा का रूप ग्रहण किया और उन कथाओं को लोक गायकों ने अपना सुर ताल की संगत देकर गाथा का रूप प्रदान कर दिया। गाथाएँ पूरे देश में व्याप्त होती रहीं। उनकी बोलियाँ बदलती रहीं। आँचलिकता की स्थितियाँ, परिस्थितियाँ जुड़ती रही। कथ्य और कथानक का सामंजस्य नहीं टूटा। केवल वेश-भूषा बदली। देह नहीं बदली। गाथाओं से महाकाव्य बने। रामायण और

महाभारत से लगाकर कवि कालिदास के मेघदूत और अभिज्ञान शाकुन्तलम विक्रमोर्वशी आदि ग्रंथों का सृजन हुआ। सबका आधारक्रम सदा वही रहा। ये गाथाएँ अपनी ठसक, श्रृंगार सज्जा साथ सदा चिरंजीवी बनी रहीं। आज भी लोक में और पुराइतिहास में, अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रही है।

इन गाथाओं का अपना स्वतंत्र स्वभाव और सुभाव होता है। अपने नायक को महिमा मंडित करने में ये कसर नहीं रखतीं। तूटती हैं तो बिगड़ी को बना देने में तनिक भी कोर कसर नहीं छोड़ती। रूठती है तो वन भी बिगाड़ देती है। इनकी कहन अद्भुत और अनूठी होती है। वीर विक्रमादित्य का यश बखानने से पूर्व प्रत्येक गाथा ने उज्जैन और मालवा का यशगान करने की ईमानदारी दिखाई है। मालवी की एक गाथा में देखिए-

अन्न सदा निपजे घणो, नी व्हे धन री टोट।

नीर-छीर, घृत धापमा नी हे हिरदै खोट ।। (8)

ऐसा ही एक संदर्भ एक पंजाबी लोक गाथा का भी देखें-

धन्न उजैनी धन्न छीपरा, तीरथ गंगा घाट ।

महाकाल राज उथे, होर सुण्या हे भाट ।।

इन्द्रपुरी जेही रौनक कहंदे, अन्न-धन दा ठाठ ।

कवि कवित करदे सुंदर, विरदा करदे भाट ।।

शोहरत विक्रमजीत दी, कहंदे तार-नितार।

बड़े बुजुर्गा तू सुण्या, विक्रम सी दातार ।।

(3)

जे तक धरती, चाँद सितारे, सूरज दा चमकार।

लिख-लिख थक्के, कहे कह थक्के सारे इलमदार।।

उज्जैन नगरी धन्य है। शिप्रा नदी धन्य है। यह नदी तो गंगा घाट जैसी पावन है। वहाँ तो महाकाल हैं उनकी पावनता भी सुनी है। इसी कारण उज्जैन तीर्थ नगरी है। एक और नाम भाट (बेताल भट्ट) का भी सुना है। महाराज विक्रमादित्य के दरबार की रौनक इन्द्रपुरी जैसी है। उनके राज्य में अन्न और धन का ठाट है। कवि वहाँ कविता रचते हैं और भाट विरदा बखानते हैं। सब विक्रमादित्य की ख्याति का वर्णन करते रहते हैं। मैंने बड़े बुजुर्गों से सुना है। विक्रमादित्य बहुत बड़ा दानी था। जब तक धरती है, चाँद सितारे हैं। सूर्य की चमक बरकरार है तब तक यह गाथा भी जीवित रहेगी। कई विद्वान लिख-लिख कर थक गए किन्तु अभी भी पूरी तरह नहीं बखान न पाए। ऐसी है विक्रमादित्य की दिव्यता और मालवा उज्जैन की भव्यता। उज्जैनी की इसी भव्यता-दिव्यता और तीर्थमयता के कारण पंजाबी गाथाकार वसतीराम कामना करता है-

रब्ब करें ते किसमत जग्गे, जा पहुँचा उस पासे।

जित्थे राजा विक्रम ने सी राज करया, सत खासे ।।

शिव शम्भू दे दरसन पावां, राजा भरथरी गावां ।

छिपरा दे जल डूबकी लाके, सारे पाप मिटावां ।।

पूरन-भगत ते गोपीचंद दी, लम्बी तान सुणावां।

गोरखनाथ मछंदर गावां, पढ़ां किशन दा नावां ।।

वसतीराम दी इहा मन्नत, उज्जैन दे तीरथ जावां ।

जित्थे पढ़या किशन सुदामा उत्थे सीस नवावां ।।

मत्था टेकां हरसिद्धां नूं काली दे दरसन पावां ।।

राजे विक्रम राज कर्या, उस धरती ते फेरा पावां ।।

रब दी मरजी रब ई जाणे, ओ अपणी मरजी करसी।

वसतीराम दी किसमत होसी तां मुराद मन भरसी।। (9)

गाथाकार मत लेता है कि, यदि मेरी किस्मत जाग जाय तो मैं भी उस ओर आ पहुँचू। जहाँ विक्रमादित्य ने सत्य धर्म के आधार पर राज किया था। वहाँ जाकर शिव शंभू भगवान महाकाल के दर्शन करूँ। राजा भरथरी के गीत गाऊँ। शिप्रा के पावन जल में डुबकी लगाकर सारे पाप मिटाऊँ। पूरन भगत और गोपीचन्द के गीत भजन लम्बी तान देकर गाऊँ और गोरखनाथ तथा मछंदर नाथ की गाथाएँ गाकर सुनाऊँ। वहाँ जाकर कृष्ण के नाम का स्मरण करूँ। जिस धरती पर विक्रम ने राज किया वहाँ जा सकूँ। वसतीराम की यही मन्नत है मैं उज्जैन की तीर्थ पर जा सकूँ। जहाँ कृष्ण और सुदामा ने शिक्षा ग्रहण की उस स्थान पर मत्था टेकूँ। हरसिद्धि और गढ़ कालिका के चरणों में सीस नवाऊँ। ईश्वर की इच्छा ईश्वर ही जाने। वह तो अपनी इच्छा से ही सब करता है। यदि वसतीराम की किसमत होगी तो मन की मुराद अवश्य पूरी होगी। उज्जैन से हजारों किलोमीटर दूर अंचल में बैठा एक गाथाकार उज्जैन तीर्थ पर आकर शिप्रा में स्नान करके अपने पापों से मुक्त होने की कामना करता है। महाकाल, हरसिद्धि और गढ़कालिका के चरणों में मत्था टेकना चाहता है। जहाँ कृष्ण, सुदामा ने शिक्षा ग्रहण की उस धरती का वंदन करना चाहता है। क्या यह उज्जैन मालवा और महाराजा विक्रमादित्य की दिव्यता, भव्यता और यशकीर्ति का प्रभाव नहीं है? उज्जैन मालवा की यशकीर्ति की ध्वजा यदि इतने दूर अंचल में फहरा रही थी तो यह महाराजा विक्रमादित्य के ही सुराज और उनकी धर्मनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और वचन निष्ठा एवं न्याय निष्ठा की ख्याति ही थी। इस प्रकार ये गाथाएँ विक्रमादित्य के गुणगान करती उनकी कीर्ति ध्वजा समग्र भारत में फहराने में एक महत्वपूर्ण कारण है। मालवी की एक और गाथा भी तो यही बखान कर रही है-

भारत रे हिरदै बसे सरसिज मालव देस।

कल-कल-कल नदियाँ बहें, ना कोई करस करेस।।

उज्जैनी सुन्दर नगर, विक्रम जी रो राज।

प्रेम, नेम परजा बसे, साजे अपणो साज।।

विक्रम री जस कीरती, जगमग पार अपार।

गीत कथा और गाथ में पहुँची समदर पार।।

महाकाल तीरथ बड़ो, सुख साता रो राज

एक संग दाणा चुगे, अठे चरकली बाज।।

(4)

छई रितुआं सरसे अठे, अपणो समयो धार।

खेतां में अन्न नीपजे, जण रो आर न पार।।

घर-घर नारी सतवती, नीति धरम समाज।

कै तो राजा राम जुग, कै विक्रम रो राज।।

विक्रम रे दरबार रो, सबदां नहीं बखान।

इन्दर सरीखो सजधजो, राजुपुरुष गुणगान।।

सिंघासन लगदक सुभे, राजा विक्रम भूप।

खांदो सीनो न्हार ज्युं सूरज दमके रूप।।

बड़ा-बड़ा ज्ञानी फबे, विक्रम रे दरबार।

जतरी विद्या जगत में, सब रा जाणणहार।।

महाकाल राजा अठे, करे करिंदा काज।

आज्ञा ले महाकाल री, विक्रम सेवे राज।। (10)

भारत के हृदय स्थल पर सरसब्ज मालव देस बसा है। यहाँ की नदियाँ कल-कल ध्वनि के साथ सदा प्रवाहित रहती हैं। मालवा में न तो कोई दुखी है और न ही किसी प्रकार का क्लेश है। उज्जयिनी एक सुंदर नगर है। यहाँ विक्रमादित्य की यशकीर्ति विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। गीतों, कथाओं और गाथाओं के माध्यम से लोक गायकों ने इसे समुद्र पार तक पहुँचा दिया है। महाकाल यहाँ बहुत बड़ा तीर्थ है। मालवा में तथा श्री महाकाल की नगरी में सब तरह से सुख शांति है। यहाँ पर चिड़ियाँ और बाज एक साथ दाना चुगते हैं। अर्थात यह वंश बैर भी समाप्त हो गया है। घर-घर में सतवंति नारियाँ हैं।

सारा समाज धर्म का पालन करता है। ऐसा राज या तो राम का था या फिर महाराजा विक्रमादित्य का है। महाराजा विक्रमादित्य अपने सिंहासन पर शोभायमान होते हैं। उनके स्कंध व सीना सिंह जैसा है तथा उनका मस्तक सूर्य के समान दमकता है। विक्रमादित्य के दरबार में बड़े-बड़े ज्ञानी शोभित रहते हैं। विश्व में जिल दिशाएँ हैं वे उन सब के ज्ञाता हैं। यहाँ के वास्तविक राजा तो महाकाल हैं बाकी सब कारिंदे (कर्मचारी) हैं।

महाकाल की आज्ञा लेकर महाराजा विक्रम राज्य का संचालन करते हैं। महाराजा विक्रमादित्य की लोक व्याप्ति सर्वाधिक है। मालवा के तीन सम्राट महाराजा राजयोगी भरथरी और धाराधिपति महाराजा भोज ने मालवा को जिस प्रकार उत्कर्ष पर पहुँचाया उसका कोई सानी नहीं है। हम किसी भी स्थिति में इन तीनों की परस्पर तुलना नहीं कर सकते हैं। ऐसा करना न तो उचित होगा और न ही संभव। तीनों का अपना-अपना उन्मुक्त आकाश है। तीनों की अपनी-अपनी ऊँची लम्बी उड़ाने हैं। तीनों महान हैं व मालवा उन पर गर्व करता है। यह भी सच है कि, विक्रमादित्य की लोक व्याप्ति इन तीनों से अधिक है। वे जहाँ रणधीर, धर्मधारक, वचन पालक एवं न्यायनिष्ठ राजपुरुष थे वहीं प्रजा के लिए सामान्य जन की तरह सदा उपलब्ध एवं तत्पर जनसेवक भी थे। विक्रमादित्य आज के राजपुरुषों के लिए प्रेरक जननायक हैं। महाराजा विक्रमादित्य के साथ अनेक चमत्कारी लोक कथाएँ भी जुड़ती चली गई। इस प्रकार वे जनप्रिय हो गए। ऐसा कहने में मैं संकोच नहीं कर रहा कि बहुत संभव है कुछ लोक कथाएँ उनके दिव्य चरित्र को समक्ष रखते हुए लोक शिक्षा हेतु भी रची गई हों। जैसा कि, कबीर, मीरा आदि के नाम से पदों की रचना की गई हैं। वस्तुतः यह सच भी है तब भी हमें इस पर गर्व होना चाहिए कि, मालवा का एक लोक नायक भारत में इतना ख्याति प्राप्त है जिसके नाम की दुहाई देकर लोक शिक्षा दी जाती है।

लोक गाथाओं पर एक चर्चा यह भी आवश्यक है कि, मालवा से सुदूर लोकांचलों में से प्राप्त लोक गाथाओं का परस्पर प्रभाव किस प्रकार हुआ? इसका उत्तर सहज व सरल है। वाचिक लोक साहित्य जितना भी है। वह किसी लोक बोली में हो वह सब का साझा होता है। एक लोक गायक दूसरे लोक गायक से सुनकर पृथक से अपनी लोक बोली में जब उसकी रचना करता है तब उसके भीतर पूर्व में सुनी हुई लोक गाथा या लोक गीत-कथा भी सजीव बनी रहती है। उस स्थिति में वह उसके पदों के वर्णन से अप्रभावी नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि, कोई भी गाथा लिखित रूप से सृजित नहीं होती। वह मौखिक रूप से सृजित होती हुई चरण-चरण, पद-पद पूर्णता को प्राप्त होती है। फिर वह कंठ से कागज़ पर आकर स्थिर हो जाती है। उदाहरण के लिए जिन गाथाओं को मैंने कंठ से कागज़ पर दर्ज कर लिया है अब उनमें कोई बदलाव हो पाना संभव नहीं है। कुछ लोक गाथाएँ, कथाएँ या गीत कुछ लोक गायकों द्वारा भी लिपिबद्ध करवा लिए जाते हैं जिससे वे सुरक्षित हो जाएँ। महाराजा विक्रमादित्य के चरित्र सम्बंधी लोक गाथाएँ हैं। मेरे पास तो केवल मालवी और पंजाबी में ही संग्रहीत हैं। बहुत संभव है अन्य बोलियों में भी यह उपलब्ध हो। शोध विद्वानों का दायित्व है कि वे उन्हें संरक्षित करें। अब इन्हें उनके गायक लगभग लुप्त और सुप्त होते जा रहे हैं। एक समय था जब राजस्थान से बहुत सारे लोक गायक मालवा के दशपुर अंचल में आते थे। इस बार मैं केवल दो ही तलाश पाया हूँ। उन्हें भी संयोगवश। एक अतिथि था, दूसरा राजस्थान के अंचल में था। भले ही यह काम बहुत कठिन है फिर भी इसे संकल्पपूर्वक करना होगा। यदि अब और विलम्ब हुआ तो हमारे अत्यंत महत्वपूर्ण ये लोक वेद किसी हयग्रीव के हत्थे चढ़ जाएँगे अथवा स्वतः नष्ट हो जाएँगे। इनका उद्धार व सुधार हमें ही करना होगा। केवल हम ही यह कठिन कार्य सरलता से पूरा कर सकते हैं। ■

संदर्भ-

(1) विक्रमादित्य री कीर्ति गाथा -मालवा लोक साहित्य संस्कृति अनुष्ठान मनासा में संग्रहीत।

(2) लोक सम्राट विक्रमादित्य-डॉ. पूरन सहगल, प्रकाशक आदिवासी लोककला विकास परिषद भोपाल मध्य प्रदेश 2017

(3) प्राचीन लोक गाथाएं-डॉ. पूरन सहगल, प्रकाशक महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, उज्जैन मध्य प्रदेश 2013

भारत में ग्राम व नगर निवेश की परम्परा

• डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू

मानवीय सभ्यता में बस्तियों का विकास मानव के निर्भीक होने, समूह में घर बनाकर रहने और परस्पर विश्वास की एक अहम् देन है। इसमें घरधारी होना मानव को निजी स्वतन्त्रता का सूचक भी है लेकिन प्रभुत्व के लिए वह संघर्षशील भी रहा। पशुओं को अपने आहार विहार के लिए विस्तृत क्षेत्र अपेक्षित था और बस्तियों के कारण वे सीमित होते गए तो आक्रामक भी हुए। ऐसे ही कारणों से सामान्य रूप में व्यक्ति ने अपनी सुरक्षा के लिए अनेक प्रयास भी किए। ये प्रयास घर की मजबूत भित्ति से लेकर सुरंग और किला निर्माण अथवा दुर्ग निवेश तक भी पहुँचे। प्राचीन बस्तियों में यदि हमें मानवीय आवास, उल्लास जैसी गतिविधियों के लिए आवश्यक संसाधन, शक्तियों के उपासना के केन्द्र, खेती बाड़ी, वस्तुओं के लिए भण्डारगृह, जलादि के स्रोत, कला और वस्तुओं के विपणन के लिए बाजार जैसी रचनाएँ मिलती हैं तो उनके 'मूल' में हमें यह मानना चाहिए कि बस्तियों का विकास सबके लिए निर्भय-निरापद और संसाधनों एवं सुविधाओं की उपलब्धता को ध्यान में रखकर किया जाने लगा।

बस्तियाँ हमें प्रत्यक्ष तो मिलती हैं ही, उत्खननों में भी प्राचीन ग्रामों और नगरों के अवशेष मिले हैं। भारत की ही बात करें तो यहाँ नदियों के किनारों से लेकर समुद्रों के तट पर भी बस्तियों के अवशेष मिले हैं जो वारि-पथपोषित या जलमार्ग वाले मानवावास के उदाहरण हैं। सिन्धु के बहाव से लेकर आहाड़, बनास, लूणी, कोठारी जैसी नदियों के आसपास जिस प्रकार की बस्तियाँ मिली हैं, वे मुख्य रूप से नगरीय और ग्राम दोनों रूपों वाली हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे यहाँ ऐसी परम्परा भी रही है कि मुख्य बस्तियों के आसपास लघु बस्तियाँ बसी मिलती हैं। मुख्य बस्तियों के उजड़ जाने पर खेतों आदि को भी बस्तियों के लिए उपयोगी मानकर वहाँ मानव ने अपने आवास खड़े किए और वे उप बस्तियों के रूप में बसीं।

नगरादि के निवेश की परम्परा

जंगलों के झाड़ झंखाड़ को काटकर नगरादि बस्ती बसाने का रोचक प्रसंग 'मिलिन्द पञ्हो' जैसे बौद्धग्रन्थ में आया है। नगरनिवेशकर्ता इंजीनियर को पाली में 'नगरवड्डकी' कहा गया है। यह संस्कृत का नगरवर्धकी है। वह सबसे पहले ऐसा स्थान ढूँढ़ता था जो असम या ऊबड़ खाबड़ नहीं हो, वहाँ की भूमि न कंकरीली हो और न ही पथरीली। वहाँ किसी उपद्रव की आशंका नहीं हो। उस काल में बाढ़, अग्नि, चोर या शत्रु के आक्रमणों को उपद्रव के अन्तर्गत गिना जाता था। इसी प्रकार वह स्थान अन्य समस्त दोषों से बचा हुआ हो और अतीव रमणीय होना चाहिए। (मिलिन्दपञ्हो अनुमानवग्गो 4) इसके बाद, उस ऊँचे नीचे स्थान

को समतल करवाया जाता था और ठूंठ- झाड़ कटवाकर साफ-सफाई करवाई जाती थी। इसके बाद नगर का माप जोख के अनुसार सुन्दर मानचित्र (मापेय्य सोभनं) तैयार किया जाता था। उसे कई भागों में बाँटा जाता और चारों ही ओर परिखा-खाई और हाता, मजबूत द्वार, चौकस अटारियाँ, किलाबन्दी, बीच बीच में खुले उद्यान, चौराहे, दोराहे, चौक, साफ-सुथरे और समतल राजमार्ग, बीच-बीच में दुकानों की पंक्तियाँ, आराम, बगीचे, बावड़ी, कुएँ, देवस्थानों का निवेश किया जाता था। (तत्रैव 4)

ऐसे नगर की स्थापना में समस्त दोषों को दूर करने का पूरा ध्यान रखा जाता था और इसके बाद नगरवड्डकी अन्यत्र चला जाता था। (सो तस्मिं नगरे सब्बधा वेपुल्लतं पत्ते अञ्ञ देसं उपगच्छेय्य। तत्रैव 4) इससे लगता है कि नगरवड्डकी को नगर निवेश के लिए ही बुलाया जाता था और ऐसे आयोजनाकार गण प्रमुखों के सतत सम्पर्क में रहते थे। नगर निवेश में ऐसी बातों का पूरा ध्यान रखा जाता था कि वह वास्तु सम्मत हो ताकि समय पाकर वह नगर समृद्धि को प्राप्त हो, उसकी शोभा बढ़े, धनाढ्य हो, निर्भय, समृद्ध, शिवमय और विघ्न बाधा रहित हो। वहाँ किसी उपद्रव का भय नहीं रहे, जनता भी बहुत बड़े और चातुर्वण्य समुदाय के अतिरिक्त शिल्पियों की बसावट भरपूर हो। ऐसा माना जा सकता है कि जनता की वृद्धि स्थानीय स्तर की ही नहीं, बल्कि यह भी विचार रहता था कि बाहर के परिवारों का भी वहाँ आव्रजन हो और वहाँ पर बसे मिलिन्दपञ्हो से ज्ञात होता है कि उस काल में शक, चीन, यवन-विलायत, उज्जैन, भरुकच्छ, काशी, कोसल, अपरान्त, मागधं, साकेत, सौराष्ट्र, पावा, औदुम्बर, मथुरा, अलसन्द, काश्मीर और गान्धार के लोग ऐसे थे जो घूमते थे और जिस किसी नगर में अपनी समृद्धि देखते बसने का मानस बना लेते थे। (तत्रैव 4) इस प्रकार नगर-निवेश के लिए युक्तियाँ प्रचलन में आ गई थीं। इसी काल तक पश्चिमी भारत में गर्गसंहिता लिखी जा चुकी थी जिसमें भी जहाँ मन को सन्तुष्टि हो और आँखों को भा जाए, वहाँ वास्तु-विन्यास करने का निर्देश मिलता है। (मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि। तस्याङ्कायं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्॥ ज्योतिर्निबन्ध पृष्ठ 165 पर उद्धृत श्लोक 8)

समुद्र के किनारे पर वेला नाम से बंदरगाहों को रचना बस्तियों के रूप में मिली हैं। कितना आश्चर्य है कि ये बस्तियाँ सुनियोजित रूप में रही हैं और मानवीय गतिविधियों के संचालन में सहायक रही हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि बस्तियों के निवेश और नियोजन की अपनी परम्परा थी और प्रभुत्व सम्पन्न लोगों द्वारा उनकी योजना पर पूरा ध्यान दिया जाता था। मुख्य रूप से सम्पन्न और विपन्न लोग वहाँ निवास करते थे और वे अपने सामर्थ्य के अनुसार सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों का क्रियान्वयन करते थे। अगस्तीमत और मणिमेखला सहित मानसोल्लास में समुद्र की तटवर्ती बस्तियों में व्यापारियों आदि की गतिविधियों का संकेत मिलता है।

हमें ज्ञात होता है कि मानव के सुदीर्घ अनुभवों को जब ग्रन्थों के रूप में लिखा जाने लगा तो उनमें बस्तियों का परिचय और उनकी लघुता, विशालता और सम्पत्रता आदि को भी लक्ष्य कर लिखा जाने लगा। सम्पन्न बस्तियों में यक्षों की मान्यताओं के फलने-फूलने के मूल में उनकी विशालता और भरे भण्डार वैभव मुख्य कारण रहा। मुख्य बस्तियों को ऐसे मार्गों पर नियोजित और निवेशित किया गया जो व्यापारिक दृष्टि से महत्व के रहे। मत्स्यपुराण, हरिवंश, भविष्यपुराण, स्कन्दपुराण, नारदपुराण, अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण आदि में प्राचीन नगरों के नामोल्लेख के साथ ही उनके बसाने वालों, वहाँ बसने वालों, उनकी गतिविधियों और वहाँ के गृह, गृहमालिका, देवालयों, जलस्रोतों आदि का विवरण मिलता है। हरिवंश में अष्टाष्टपद वास्तुन्यास विधि से द्वारका की रचना करने का सन्दर्भ मिलता है। सौन्दरानन्द में भी कपिलवस्तु के निवेश के विषय में यही मत दोहराया गया है तथा कहा गया है कि जल की धारा से सीमा का निर्धारण किया जाता और राजपुत्र के निर्देशन में नगर की रचना की जाती अष्टापदमिवालिख्य निमित्तैः सुरभीकृतम्। (सौन्दरानन्द 1, 32)

नगर बसाने के लिए शास्त्रीय नियम

गुप्त और गुप्तोत्तरकाल में सम्पादित हुए वास्तु विषयक ग्रन्थों में बस्तियों के निवेश के नियम निर्धारित किए गए हैं। यह कार्य शासक का माना गया कि वह प्रजा के लिए अच्छी बस्तियों का निवेश करे और वहाँ पहुँच के लिए अच्छे और उपयोगी मार्ग बनाए, उन पर जल प्रबन्ध के लिए प्याऊ बिठाए, छाया आहार के लिए छायादार व फलदार वृक्ष लगाए और किसी प्रकार की लूटपाट से बचाने के लिए चौकियों की व्यवस्था करे। यही नहीं, किसी बस्ती से कोई बस्ती कितनी दूर है, इसके अनुमान के लिए कोई संकेतक लगवाए। कालान्तर में मार्गों में यानों की व्यवस्था भी की जाने लगी ताकि रोगियों, स्त्रियों और बच्चों को सुरक्षित और सुगम रूप से लक्ष्य तक पहुँचाया जा सके।

भारत में बस्तियों के निवेश के आधार निम्न रहे हैं-

1. जाति बहुल बस्तियाँ,
2. व्यापारिक दृष्टि से महत्व की पाटण, मण्डपिकाओं जैसी बस्तियाँ,
3. खेतिहरों की बस्तियाँ (कृषिवला जनपद, खेड़ा, खेटक, खर्वट आदि) और
4. राजधानी के लिए पुर, निगम आदि बस्तियाँ।

इनमें चारागाह आदि की दृष्टि से स्वल्प गृहादि वाली छोटी बस्तियाँ होतीं, उनको खेट कहा जाता। यहाँ मृगया आदि भी हो सकते थे। इनका एक स्वरूप किसानों की बस्तियों का भी रहा है स तु कर्षकग्रामः। भागवतपुराण में आया है खेट खट वाटीश्च वनान्युपवनानि च। (भागवत 1, 6, 11) श्रीधर ने खेट को कृषक ग्राम या किसानों का गाँव कहा है। खबंट अथवा खर्घट नाम वास्तुशास्त्रों में उपलब्ध होता है। यह अभिलेखों में खेटक (माल्यखेटक आदि) नाम से मिलता है और वर्तमान में खेड़ा नाम मालवा, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में लोकप्रिय है। ग्रामभेद के रूप में इसको कोशकारों ने स्वीकार किया है जिसका बंगला पर्याय चासार गाँ(व) भी मिलता है।

इससे बड़ी बस्ती ग्राम के नाम से ज्ञेय है जिसके लिए कोशों में कहा है जहाँ विप्रादि वर्णप्राय रहता हो और जो परकोटा, खाई आदि से रहित हो, जैसा कि भरत के कोश में मिलता है- विप्रादि वर्णप्राया प्राकारपरिखादिरहिता बहुजन वसतिः। अमरकोश में इसका पर्याय संवस्थ आया है। (अमरकोश 2, 3, 19) श्रीधर स्वामी ने हाट बाजार रहित बस्तियों को ग्राम कहा है हट्टादि शून्यवसतिः। व्यास वचन में कहा है कि जो अन्त्यजन बहुल तथा समृद्ध किसानों की आबादी वाला हो और जहाँ भूमि का उपयोग खेती के लिए होता है, ऐसी बस्ती ग्राम या गाँव कही जाती है तथा शूद्रजनप्राया सुसमृद्धकृषीवला। क्षेत्रोपयोगभूमध्ये वसतिग्रमसंज्ञिका ।। (मार्कण्डेयपुराण)

इसी प्रकार नगर के लिए कहा गया है कि जहाँ लोग बहुतायत में रहते हों- बहुलोक वासस्थानम्। इसको शहर भी कहा जाता है। पारिभाषिक रूप में यह भी कहा गया है कि जहाँ प्रासादादि की बहुलता है- नगा इव प्रासादादयः सन्ति यत्र। इसके पर्याय पूः, पुरी, पुरिः, पुरिम्, नगरी, पत्तनम्, पट्टनम्, पट्टनी, पुटभेदनम्, पटभेदनम्, स्थानीयम्, निगम आदि अमरसिंह और भरत आदि ने बताए हैं। शब्दरत्नावली में कटक, पट्टम आदि पर्याय माने हैं। नगर, पत्तन, स्थानीय के भेदों के प्रसंग में यह भी कहा गया है-

1. तत्र पुरादि त्रयं पुरे।
2. पत्तनादिद्वयं पत्तने।
3. स्थानीयादिद्वयं स्थानीये।
4. यत्राष्टशत ग्रामीय व्यवहारस्थानं मध्यवर्त्ति तत् नगरम्।
5. यत्र राजा तत्परिचारकाश्च तिष्ठन्ति तत् पत्तनम्।
6. प्राकारादिना दुर्ग योजनविस्तीर्ण नगरं स्थानीयम्।

अन्य परिभाषाओं में हमें यह भेद भी मिलते हैं-

1. बहुग्रामीय व्यवहारस्थानं पुरम्।

2. तत्र प्रधानभूतं नगरम्। (शब्दकल्पद्रुम द्वितीय खण्ड पृष्ठ 817)

तेरहवीं सदी के अपराजितपृच्छा ग्रन्थ में नगर, पुर, खेड़ा, खेड़ी आदि निवेश के विधान को रोचक ढंग से लिखा गया है और ये विवरण उस काल राज्याश्य में बस्तियों के विकासक्रम का परिचायक है। उस काल में पुर के आधे भाग पर बसी हुई वस्ती को ग्राम और ग्राम के आधे को खेटक (खेड़ा) कहा जाता है। खेट के आधे को कूट (कड़ या कूड़) और कूट का आधा कर्वट (खेड़ी) कहलाता था। यह भी सन्दर्भ है कि पुर नाम वाली बस्ती में 17 सड़कों का प्रावधान होता जबकि ग्राम में 9 सड़कें होती। खेटक में 5 मार्ग और कूट केवल 3 ही सम्पर्क मार्ग रखे जाते। कर्वट के लिए तो 2 मार्ग ही होते। इस तरह बस्तियों के निवेश के लिए नामानुसार पाँच छन्द-पुर, ग्राम, खेटक, कूट और कर्वट होते थे

पुरार्धेन भवेद् ग्रामो ग्रामार्धेन तु खेटकम्।
खेटकार्धेन भवेत् कूटं कूटार्धेन तु कर्वटम्॥
पुरे सप्तदश मार्गा ग्रामो वै नवमार्गतः।
खेटके पञ्च मार्गाः स्युस्त्रिभिर्मार्गश्च कूटकम्॥
द्वौ माग कर्वटे ख्यातौ छन्दाः पञ्च प्रकीर्तिताः।
पुर ग्राम खेटकं च कूटं च कर्वटाभिधम्॥ (अपराजितपृच्छा 72, 26 28)

इससे पूर्वकाल में राजा भोजदेव (11वीं सदी का पूर्वार्द्ध) का यह मत बस्तियों के प्रमाण ही नहीं, उनके नामकरण की सूचना भी देता है। प्राय: सामन्तों और भूमिपति भी इस प्रकार की बस्तियों का निवेश करते थे। राजा बड़ा नगर बसाता था। तब नगर के विस्तार से आधे विस्तार वाली बस्ती को खेट कहा जाता था। खेट के आधे विस्तार की बस्ती को ग्राम के रूप में जाना जाता था। (नियोजन की दृष्टि से) पुर से एक योजन की दूरी पर खेट होता है और खेट से उतनी ही दूरी पर ग्राम होता है। एक ग्राम से दूसरे ग्राम का अन्तर एक गव्यृति माना जाता था। दूरी के लिहाज से दो कोस की सीमा पर विषय या जनपद होता, उससे आधी सीमा पुर, पुर से आधी सीमा खेटक और खेटक में आधी सीमा ग्राम की होनी चाहिए। पुर में दिशामार्गों का विष्कम्भ (घेरा, विस्तार) तीस धनुष के बराबर होता है। खेटक में बीस और ग्रामों में दस घनुष के प्रमाण से मार्ग होता था-

खेटं तदर्थविष्कम्भमाहुग्रामं तदर्धतः।
योजनने पुरात् खेटं खेटाद् ग्रामं प्रचक्षते।
गव्यूतिपरिमाणेन ग्रामाद् ग्रामं प्रचक्षते॥
द्विक्रोशाद् विषये सीमा तदर्धेन पुरस्य सा
खेटके पुरसीमार्ध ग्रामे खेटार्धतः स्मृता॥
त्रिंशद्धनूंपि विष्कम्भः पुरे दिग्वर्त्मसु स्मृतः।
विंशति खेटके मार्गो ग्रामे दश च दर्शितः॥ (समराङ्गण सूत्रधार 10, 79-82)

भोज का यह महत्वपूर्ण शास्त्र चित्तौड़ में लिखा गया था। इसके कुछ विवरण उसकाल में भूमि की कोटियों के सम्बन्ध में विचारणीय है। तब सोलह भूमिक्षेत्र माने जाते थो- 1. बालिशस्वामिनी, 2. भोग्या, 3. गोचर रक्षिणी सीता, 4. अपाश्रयवती, 5. कान्ता, 6. खनिमती, 7. आगधारिणी 8. गणिक, प्रसाधिता, 9. व्यता 10. अमित्रधातिनी, 11. आश्रेणीपुरुषा, 12. शक्य-सामन्ता, 13. देवमातृका, 14. धान्य शालिनी 15. हस्तिवनोपोता और और 16. सुरक्षा संज्ञक (तत्रैव 8,9) भूमि की ये कोटियाँ

भारतीय भूमिज्ञान के लिए उपयोगी हैं और यह बताता है कि किस तरह शासकों द्वारा भूमि का उपयोग और उस पर शासन-प्रशासन बिठाने और राजस्य आदि के प्रबन्धन में सहायक था।

यह सल्तनतकाल के पूर्व के राजाओं के भूमिबन्दोबस्त का विचारयोग्य विवरण है जिसका यहाँ विवरण उपयोगी होगा-

1. बालिशस्वाामिनी: ऐसी भूमि जो कि बालिश (मनु 3, 176 के अनुसार अज्ञ, बालक) राजा द्वारा शासित की जा सकने के योग्य हो और जहाँ पर समझदार प्रजा व नासमझ राजा हो। यह प्रशासनिक अनुभव ग्रहण करने के क्षेत्र के सम्बन्ध में होती है।

2. भोग्यान: जहाँ भाग-भोग करों का वितरण अधिक होता हो और जहाँ की प्रजा बहुत धनवान हो जो कि करों को अदायगी कर सकती हो। वह भूमि भोग्याग कही जाती हैं।

3. सीता गोचर रक्षिणी: पहाड़ों के मध्य में अथवा उनसे बाहर नद और नदियाँ जिस क्षेत्र की सीमाओं का विभाजन करती हों और जहाँ पर कृषि सहित पशुचरण होता हो। इसको चरणोट के रूप में सुरक्षित रखा जाता था।

4. अपराश्रती: जहाँ पर नदियों का प्रवाह हो और पहाड़ों व जंगलों के अन्तर्गत प्रवेश करते हुए लोगों के मन में भय बना रहता हो, वहाँ बसने वालों को कहाँ उपयुक्त जगह नहीं मिलती हो। वहाँ विशेष सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाता।

5. कान्ता: जहाँ पर वन उपवन वाले सुन्दर पहाड़ हों, सरिता के कुंज बड़े मनोहर हो और जहाँ लोग निवास के लिए सहज ही इच्छा रखते हो, इस भूक्षेत्र की बड़ी मांग रहती थी।

6. खनिमती: ऐसा भूभाग जहाँ से सुवर्ण, रजत, ताम्बा, जस्ता आदि धातु निरन्तर प्राप्त होते हों और जहाँ उन धातुओं के लवण-पिण्ड (अयस्क) पर्या मिलते हों या मिलने की सम्भावना हो। यह राज्य द्वारा रक्षित (अदेय, आवंटन के अयोग्य) और राज्य द्वारा हो दोहन के योग्य मानी जाती थी। अमरसिंह ने इस तरह की भूमि को आकर कहा है और मेवाड़ में दड़ीबा, आगरिया आदि नाम रहे हैं।

7. आत्मधारिणी: जहाँ पर दण्ड प्रावधान, कोश जुटाने की सख्ती और पहरेदारों की कोई ज्यादती नहीं हो और कर वसूली अधिक नहीं हो और जहाँ पर बेहतर लोकाश्रय मिलता हों।

8. वणिक् प्रसाधिता: वह क्षेत्र जहाँ प्रसिद्ध क्रय-विक्रय करने वालों की बहुलता हो, मण्डी की तरह व्यापार के साधन उपलब्ध हो और जहाँ वैश्य लोग बहुतायत में रहते हो। यह क्षेत्र मण्डपिका या गंज की तरह महत्व रखता था।

9. द्रव्यवती: उपयोगी लकड़ी का उत्पादन क्षेत्र जहाँ से शाक सागवान, अश्वकर्ण-साल, खदिर-खेर, श्रीपर्णी-गम्भीरी, स्यन्दन-निश, असन बीजक, बाँस, क्षेत्र बेंत, सरगड़ा सरकण्डा आदि प्रचुर रूप से मिलते हो।

10. अभिनयातिनी : जिन जनपद के निवासी साधु- सज्जन हों, जिन्होंने बलात्, हठादि को त्यागकर अपनी भूमि को न्यायपूर्वक उचित रूप से विभाजित कर अपना बसाव कर रखा हो एवं जिससे उन्हें मित्रों को सहायता मिलती हो। यह लोगों द्वारा अपनी भूमि, अपना काम धारणा की परिचायक रही।

11. आश्रेणीपुरुषा: जहाँ पर कोई छोटा न हो और ऐसा कोई वन्दीजन नहीं हो जो किसी पड़ोस के राजा के किले की शरण में जाना चाहता हो, जहाँ पर विनीत एवं सभ्य जन रहते हों। यह शासनिक भूमि का तत्कालीन स्वरूप था।

12. शक्यसामन्ता: ऐसी भूमि जहाँ के सामन्तगण व्यर्थ के परामर्श से परे रहकर महाराजा के विरुद्ध उपद्रय से विमुख रहते हों और राज्य के अभ्युदय में लगे रहते हों। यह राजा के विश्वस्त द्वारा शासित क्षेत्र होता था।

13. देवमातृका: वह भूमि जहाँ खेतिहर लोगों की बहुलता हो और जो नदियों के जल पर आश्रित रहकर कृषिकर्म, धान्योत्पादन में लगे रहते हों और जहाँ अचानक बादलों का बरसना होता रहता हो। यह भूमि चौमासी नदियों के क्षेत्र में ककड़ी आदि उत्पादन करने वालों की होती और फल प्रायः भाग्य भरोसे माना जाता था।

14. धान्यशालिनी: जिस भूमि पर बाग-बगीचे, कुंज आदि अधिक होते, जहाँ पर योजों का उत्पादन बिना किसी विशेष श्रम के, सहजता से हो जाता और जहाँ किसान खेतों से बहुत उत्पादन करते हो। यह उपजाऊ भूमि का इलाका होता।

15. हस्तिनपेता: जिसकी सीमा पर पर्वतमालाएँ हों और जहाँ हाथियों के विहार योग्य वनारण्य होते। यह भूमि राजा की हस्तिसेना बढ़ाने वाली मानी जाती थी। प्राचीनकाल में पालकाप्य ने पूर्व में चेदि, करूपक के क्रम से दशार्णक, अंग, कलिंग, अपराजित, सौराष्ट्र व पांचनद में इस प्रकार के हस्तिवन को गिनाया है।

16. सुरक्षिता: जो भूमि सदैव विषमतला होने के कारण शत्रुदलों के लिए सदा ही दुर्जेय, दुर्भेध होती। जो विषय पर्वतों एवं नदियों के प्रवाह के फलस्वरूप गोपनीय या सर्वदृष्टि सुरक्षित समझी जाती थी। (तत्रैव 8, 70-25)

इससे स्पष्ट है कि वास्तुविषयक शास्त्र केवल भवन के सम्बन्ध में ही जानकारी नहीं देते बल्कि उनके राजोपयोगी प्रशासनिक और प्रबन्धकीय नियमों की विधियाँ भी प्रदान करते थे। इनमें धातु उत्पादन करने वालो भूमि खनिमती का विवरण विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है जिसकी और नवीं सदी में हुए भर्तृहरि ने भी संकेत किया है कि ऐसी भूमि को द्रव्य के लिए जगह जगह खोदा जाता था और पर्वतों से प्राप्त होने वाले अनेकानेक अपस्कों को गलाया जाता था। (उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं माता गिरेधांतवो...। भर्तृहरिशतक) उस काल में प्रचलित धातुको में अयस्क को गलाने और द्रवित्त धातु का उत्पादन तकनीकी प्रगति का एक खास चरण था।

अपराजितपृच्छा में नगरों के नाम और आकार भी दिया गया है-

क्र	नगर नाम	आकार
1.	माहेन्द्र	चौरस
2.	सर्वतोभद्र	लम्बचौरस
3.	सिंहावलोकन	वृतगोल
4.	वारुण	लम्बगोल
5.	न्द्यालवर्त	स्वस्तिकाकार
6.	नन्दाग्यर	मुक्तककोण
7.	पुष्पाक	अष्टयदलपुष्पाककार
8.	स्विस्तक	अष्टातुस्त्रण
9.	पार्श्वोदण्डष	अतिदीर्घ
10.	जयन्तम	यथाकृति
11.	श्रीपुर	एकदुर्गीय

12.	रिपुदमन	द्विदुर्गा
13.	स्त्रानह	पर्वतेयकुक्षी
14.	दिव्य	गिरिमस्तक
15.	सौभाग्य	सरितीर
16.	धर्म	सरिरदक्षिणे
17.	कर्मण	नदी के पश्चिम में
18.	शक	नदी से पूर्व
19.	पौरुष	पुरुषाकृति नगर
20.	साम्प्रत	नदी के दो ओर

हर्बोत्तरकाल में पश्चिम और मध्यभारत के मालवा, मेवाड़ और उससे लगे मारवाड़, गुजरात, साम्भर, जेजकभुक्ति आदि में नगर निवेश एक बड़े रूप में दिखाई देता है। हर शासक नगर, पुर, प्रामादि का निवेश कर वहाँ लोगों के लिए अनेक संसाधनों को जुटाने पर ध्यान देने लगा था। यह जनसंख्या का बढ़ना था अथवा अनेक स्थानों से लोगों का सपरिवार सुविधा सम्पन्न क्षेत्र में आना, लेकिन नय स्थापित और विकासशील नगरों में जनजीवन अपनी तरह किलोल कर रहा था। उस काल में नगरों को अमरापुरी, विचित्रकूट, नागलोक आदि विशेषण वाली पुरियों से उपमित करने का प्रचलन भी ज्ञेय है। यही कारण है कि ये गतिविधियाँ पुराणकारों के लिए वर्णन का विषय बनी।

स्कन्दपुराणकार कहता है कि नव निर्देशित नगर अनेक योजनों के विस्तार की योजना के साथ बसाए जाते थे। उनको दिव्य दिखाने के लिए अनेकविध प्रयास होते थे और उनके लिए प्रामः दिव्य, दिव्यजनप्रिय, दिव्य अभिप्राययुक्त, दिव्यस्थान, मनोरम, सर्वगुणयुक्त, विशाल विरजा शुभा जैसे विशेषणों का प्रयोग किया जाता था। ये क्रय-विक्रय की सुविधा (क्रय-विक्रय सम्पन्न) के रूप में विकसित किए जाते थे अतः वहाँ पर बाजारों और चोहट्ट (हट्टाहालक बत्वराम्) का विकास किया जाता था। वहाँ शासकीय स्तर पर अनेक भवनों, हवेलियों (बहुहम्पंगृहाकीर्ण) को बनाया जाता था। इनमें सुधा या चूना का प्रयोग होने से वे सौध (सोधपंक्तिविराजितम्) कहे जाते थे। दीवारों को स्फटिक (स्फाटिकाभित्तिरचिताम्) की तरह दिखाया जाता था। उनके भूमितल पर लाल आंगन रखा जाता जिसके लिए वैदूर्यमणि भूमिका शब्द व्यवहार्य था। भवनों में स्तम्भों को भी प्रवाल की तरह बनाया जाता था। तब काष्ठ का बहुत प्रयोग होता था और खम्भों को बहुत युक्तियों और अलंकरणों सहित बनाया जाता था।

इसी प्रकार भवन सुनहरे रंग से ओपित (हेमभरण सम्भराम्) किए जाते थे। देहरियों को लाल रंगा (आरक्तमणि देहल्याम्) जाता था। द्वारशाखाओं की रचना में बहुत सुन्दरता (द्वारशाखाभिमण्डिताम्) का ध्यान रखा जाता था। जाम्बूनद स्वर्ण सरीखे दरवाजों के किंवाड़ा

(जाम्बूनद कपाटाभ्याम्) को बनाया जाता था। अगलाओं को मजबूती के लिए वज्र नामक लोहे (वज्रार्गल सुसंस्कृताम्) का प्रयोग होता था। तब नगरों की शोभा और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए द्वार, चत्वर (चौकियों सहित चौराहे), सभाभूमि की रचनाएँ होती। स्तम्भों पर पताकाओं को फहराया जाता था। घरों की पहचान भी पताकाएँ थीं, बिल्कुल वैसे जैसे आजकल बैनर लगाए जाते हैं। छतों पर शिखर का प्रयोग होता था। भवनों के गोखे (घोष), जालियाँ (जालानि) होती और उन पर

मालाओं को (मुकादाम विलम्बिनी) लटकाया जाता था।

संसाधनों के रूप में कुएँ, बावड़ी आदि बनाए जाते थे। जल सुविधा देखकर तालाबों की रचना की जाती थीं। उनमें कमलों की खेती करना लोगों का एक शगल सा था, इसी कारण वे सुगन्ध से सराबोर रहते थे। कई प्रकार के जलीय जीव भी उनमें पाए जाते थे जिनमें मुख्य रूप से हस (जलमुर्ग), कारण्डव (फूंकने वाले जलीय जन्तु) आदि होते थे। जगह-जगह जलोत्थान के लिए जलयन्त्रों की व्यवस्था की जाती थी। ये फव्वारे के रूप में जल को गिराते थे। गृहवापियों की रचना इस काल की एक विशेषता थी। उद्यान नगरीय संस्कृति के हिस्सा थे जिनमें पुष्पित पौधे उगाए जाते ताकि भौरों की गुंजार का आनन्द लिया जा सके। भवनों से झाँकने के लिए चन्द्रशालाओं की पंक्तियों (चन्द्रशालाकृताश्रेणी) निर्माण होता और सौंदर्य के लिए तोरणों की रचना (तोरणानीवशोभते) की जाती (स्कन्दपुराण अवन्ती. 58, 14-24)

नगरों के निवेश के वर्णन के साथ ही उस काल के जनजीवन की गतिविधियाँ भी देखने को मिलती हैं। कहीं पर यजमान लोग कात्विकों के साथ यज्ञों का सम्पादन करते थे तो कहीं यज्ञोपरान्त अयभूथ स्नान कर दानादि कृत्य में लगे दिखाई देते थे। कहीं पर उपनयन संस्कार होता दिखाई देता था तो कहीं कलश पर कलश रखकर विवाह की वेदियाँ बनाकर अग्नि जलाई जाती थी। भवनों और उद्यानों की प्रतिष्ठा भी एक बड़ा उत्सवधर्मी आयोजन होता था। देवयात्राएँ आयोजित की जाती थीं। वापी, कूप, तालाबों का प्रतिष्ठापन होता था। जलाशयों पर सुविधा के लिए सोपानी या घाटों की रचना होती थी। चंचल, चपल श्यामा बालाएँ अपनी कोख में कलशों को लेकर जल भरने के लिए जाती दिखाई देती थीं। कहीं पर कथा-कीर्तन तो कहीं पर उपदेशक सुभाषितों के साथ सभा को सम्बोधित करते रहते थे। कहीं पर कवियों द्वारा गाथाओं का गान होता था तो कहीं अखाड़ों, मल्लशालाओं में पहलवान पेंच लड़ाते दिखाई देते थे। कभी-कभी नहीं के नाटक होते। (उपर्युक्त 58, 33-38)

इस तरह की शब्दावली कुषाणकाल से ही भारतीय समाज में प्रचलित थी। तब मौजूद रहे नगरों के विभिन्न भागों का नाम अंगविजा में मिलता है, जिनमें से मुख्य है- अन्तःपुर या राजप्रासाद, भूगन्सर (भूम्यंतर, सम्भवत: भूमिगृह), सिंघाडक (शृंगाटक), चउक्क (चौक), राजपथ, महारथ्या, उस्साहिया (ज्ञात नहीं, सम्भवतः परकोटे के पीछे की ऊँची सड़क), प्रासाद, गोपुर, अद्दालक, पकंठा (प्रकंठी नामक बुर्ज), तोरण, द्वार, पर्वत, वासुलक (मिट्टी का बुहा), धूभ (स्तूप), एलय (एड्डुक), प्रणाली प्रवात (प्रपात, गड्ढा), वप्प (बावड़ी), तडाग, दहफलिहा (हदपरिक्खा), वय (वज्रगोकुल अथवा मार्ग अथवा मार्ग)। (अंगविजा अध्याय 57)

इनमें एलुय या एडुक का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तरपुराण और महाभारत में अलग-अलग अर्थों में आता है और ये सम्भवतः स्मृतिः शेष जनों के लिए किसी निर्मिति के अर्थ में रहा है। हालाँकि प्रतिमा नाटकम् ऐसे स्थलों को प्रतिमागृह कहता है। नगरों के बाहर के स्थानों में ध्वज, तोरण, देवागार, बुक्य (वृक्ष), पर्वत, माल, धम्भ, एलुग (द्वार की आर्गला या अटकाने वाला काष्ठ), पाली (तालाब का बाँध), तडाग, चडया (चौक), वप्र (चारदीवारी), आराम (बगीचा), श्मशान, वच्चभूमि (वर्चभूमि), मण्डलभूमि, प्रपा (पौसला, प्याऊ), नदी-तडाग, देवायतन, दनुषण (दाधवन), उट्ट (ऊटी हुई जगह), जण्णवाड (पज्ञपाटक), संगामभूमि (संग्राम का मैदान) आदि। (उपर्युक्त)

दक्षिण भारत में ग्रामादि निवेश के सन्दर्भ

देश के दक्षिण में ग्राम, नगरादि निवेश की अपनी विशिष्ट प्रणाली देखने में आती है। 10वीं सदी के मयमतम् जैसे वास्तु के महाग्रन्थ के 9वें अध्याय में ग्रामादि के मान और विन्यास विधि को स्पष्ट किया गया है। इसमें मानप्रमाण के अन्तर्गत दण्डादि के मान प्रमाण बताए गए। इसमें दण्ड प्रमाण से ग्राम के प्रकार, लघु दण्ड से ग्राम के मान, चालीस प्रकार के भेद, नगर का प्रमाण, ग्राम, खेट, खर्वट, दुर्ग व नगर के तीन-तीन भेद, हीन, मध्यम, उत्तम ग्राम, हीन, मध्यम, उत्तम खेट, हीन, मध्यम, उत्तम खर्यट, हीन,

मध्यम, उत्तम दुर्ग, हीन, मध्यम, उत्तम नगर, प्रामादि के अन्य तीन-तीन भेद, लम्बाई-चौड़ाई का अनुपात बताया गया है। मानसार, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, शिल्परत्नम्, विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् आदि में भी ग्रामादि का वर्णन आया है। यह वर्णन विधिवत रूप से ग्राम की स्थापना की परम्परा को प्रकट करता है। आज नगर नियोजन का जो सम्प्रत्यय है, उस प्रसंग में प्रामादि निवेश की परम्परा को देखा जाना चाहिए। विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् में बारह प्रकार के ग्रामों का वर्णन है। ये हैं मण्डक, प्रस्तर, बाहुलीक, पराक, चतुर्मुख, पूर्वमुख, मंगलग्राम, विश्वकर्मक, देवराइ, विश्वेणश, कैलास, नित्यमंगल। यथा-

आधस्तु मण्डकग्राम प्रस्तरस्तदनन्तरम्।
बाहुलीकस्तृतीयस्तु पराकस्तु चतुर्थकः ॥
चतुर्मुखः पञ्चम: स्यात् पष्ठः पूर्वमुखस्तथा।
सप्तमो मङ्गलग्रामस्त्वष्टमो विश्वकर्मकः ॥
नवमो देवराङ्ग्रामो विश्वेशो दशमो मतः।
एकादशस्तु कैलासो द्वादशो नित्यमङ्गलः ॥
इत्येवं द्वादश ग्रामा: शिल्पशास्त्रे प्रकीर्तिताः।
एतेषां ग्रामवर्गाणां लक्षणं कीर्त्यते क्रमात्॥ (विश्वकर्मा, 7,69)

इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण, अमरकोश, कामिकागम्, अपराजितपृच्छा, अर्थशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों में नाना नगर, ग्राम नाम वर्णित हैं। इनमें से अमरकोश में सात नाम आए हैं-पुर, पुरी, नगर, पत्तन, पुटभेदन, स्थानीय एवं निगम्। समराङ्गण सूत्रधार में नगर-पुर प्रकार इस प्रकार आए है- राजधानी नगर, शाखानगर कर्वट, न्यूनकर्वट निगम, न्यून निगम ग्राम, राजध्यान्योपनगर- पतन, वाणिज्यवणिक बहुल पुटभेद, गोकुलावास गोष्ठ, पुलिन्दादिवास-पति, पल्लिस्वल्पा पल्लिका। श्रीकुमारकृत शिल्परल में नगर भेद इस प्रकार बताए गए हैं- सरितातटस्थ द्रोणमुख, गिरिमध्यस्थ कोट्यमकिलम्, शिल्पगणादि नगर निगम, सन्तावास और अध्ययन केन्द्र मठविहार।

ग्रामादि के लिए आयादि अंगों का वर्णन भी मयमतम् में किया गया है। वास्तु में आयादि की गणना का बड़ा महत्व है। छठी सदी में हुए आचार्य लल्ल को वास्तु में आयादि की गणना का श्रेय दिया जाता है। अगस्त्य के सकलाधिकार में प्रतिमाओं के लिए आयादि की गणना आगमों और तन्त्र ग्रन्थों में विस्तार पाती चली गई। क्षीरार्णव की का साक्ष्य है। हालाँकि मत्स्यपुराण में आयादि का संक्षि न है किन्तु रचना होने तक आयादि में 21 अंगों का समावेश हो गया। प्रस्तुत पाठ में पाद टिप्पणियों में मैंने इसका संकेत किया है।

ग्रन्थकार की आयादि की गणना बहुत महत्व की है। ग्रन्थ में एकादिक स्थानों पर आयादि पर विचार इस गणित के महत्व को दर्शाता है। आज यह विषय गौण-सा हो गया है किन्तु यह आश्चर्य है कि श्रीपति से लेकर नारायण दैवज्ञ, नरसिंह, रामदैवज्ञ, विठ्ठल दीक्षित, गणपति रावल आदि ने भी इस गणित को वर्णित किया है। मण्डन सूत्रधार ने पूरा अध्याय ही इस विषय पर लिखा है और पृथक् से आयतत्त्वं ग्रन्थ का प्रणयन किया है। हालाँकि ज्ञानप्रकाश दीपार्णव का आरम्भ ही इससे हुआ है। फिर समराङ्गणसूत्रधार व अपराजितपृच्छा में भी यह विषय एकाधिक सूत्राध्यायों में आया है। देवतामूर्तिप्रकरण में मण्डन ने मय के सूत्रों को उद्धृत किया है।

मयमतम् ने विप्रों की संख्या के अनुरूप ग्राम के भेद, मध्यम कोटि के ग्राम, अथम कोटि के ग्राम, अधम कोटि में ही तीन अन्य ग्राम भेद, अल्प ग्राम के दस अन्य भेद, एक ब्राह्मण परिवार वाला ग्राम, युग्म अयुग्म विन्यास, आठ प्रकार की ग्राम्य रचना का वर्णन किया है। इसके लिए वोधी विन्यास को विधि और उनके नाम, मार्गों की चौड़ाई का प्रमाण, ब्रहावीथी राजवीथी, कुट्टिम, रथमार्ग, नाराचपथ एवं गली, प्रामादि के आवृतमार्ग व जनवीथी, वर्णवास के अनुरूप ग्राम के भेद, दण्डक ग्राम के लक्षण,

स्वस्तिक ग्राम के लक्षण, प्रस्तर ग्राम के लक्षण, प्रकीर्णक ग्राम के लक्षण, नन्द्यावर्त ग्राम के लक्षण-पराग ग्राम के लक्षण, पद्मक ग्राम के लक्षण, श्रीप्रतिष्ठित ग्राम के लक्षण अन्य श्रीवत्सादि ग्राम विन्यास, दण्ड विभाजन का निषेध, लघु ग्रामों में मार्ग विषयक निर्देश द्वार निवेश एवं उपयुक्त पद, जलमार्ग के उपयुक्त पद, उपद्वारयोग्य देवपद, द्वारप्रमाण का निर्देश किया है। यही नहीं, ग्राम के बाहर तत्कालीन परम्परानुसार परिक्खा एवं वप्र निर्माण का निर्देश, नदी तट की आवश्यकता, ब्रह्मस्थान तथा मानुषादि क्षेत्र निर्धारण, किस क्षेत्र में किसे बसाएँ- यह जानकारी दी है।

इसके बाद, शिवालय और अन्य देवताओं के मन्दिरों के स्थान, शिवपरिवार, अन्य देवालयों का वर्णन, केशवमन्दिर व गणेश प्रासाद, आर्यक व विष्णुविमान, सुगत, नृपधाम, मंदिर व कात्यायनीवास, धनपति कुबेर, मातृमन्दिर व शंकर भवन, सभास्थान और हरिसदन एवं उनके विशेष ज्ञातव्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। पुर निवेश में देवालयों की आवश्यकता और उनके लिए स्थान, दिशादि का निर्धारण बहुत प्रासंगिक है और मय का निर्देश इसकी पूर्ति करने में सहायक है। इनको निम्नांकित तालिका से देखा जा सकता है-

1. विनायक मन्दिर- भृंग, अग्नि, सोम, शोष, सुग्रीव, पुष्पदन्त के पदानुसार
2. शिवालय - ईश या सोम, पर्जन्य व जयन्त के पदानुसार
3. सूर्यायतन - सूर्य के पदानुसार
4. कालिकादेवी - अग्नि के पदानुसार,
5. कार्तिकेय या मुरुगन - यम के पदानुसार
6. केशवप्रासाद - भृश, मृग, नैरृति के पदानुसार
7. विष्णुप्रासाद- भृश, वरुण, मध्य के अनुसार
8. मंदिर - वायु के पदानुसार
9. आर्यक - नैऋत्य के पदानुसार
10. मुगत - सुगल या सुग्रोष के पदानुसार
11. जिनप्रासाद - भृग के पदानुसार
12. कात्यायिनोप्रासाद - मुख्य के पदानुसार
13. धनदप्रासाद - सोम, शोष के पदानुसार
14. मातृकाप्रासाद - अदिति, सोम के पदानुसार

इसी प्रकार ब्रह्मा के ईशान, आग्नेय कोण में सभास्थल, ब्रह्मा के चायव्य में एवं नैऋत्य में हरिमन्दिर के निर्देश दिए गए हैं। इसके उपरान्त नलिनकादि भवन, विष्णुछन्दाधारित प्रासाद, किस बस्ती में कैसा मन्दिर हो, दौवारिक, देवप्रासाद की मुखस्थिति, देवालयार्थ निषिद्धस्थल, ग्रामादि में बस्ती विन्यास का क्रम, कर्मकार आदि के गृहों का परिमाण, विविध प्रकार के शालगृहों का वर्णन हुआ है। यह निश्चित रूप से उत्तर वराहकालीन, 8-9वीं सदियों को सामाजिक स्थितियों का घोतक है। वशिष्ठ का मत है कि कार्योद्देश्य से दिशानुसार वास्तु में यहाँ का निर्माण करवाना चाहिए। कहा गया है कि पूर्व में स्नानगृह, अग्निकोण में पाकगृह, दक्षिण में शयन, पश्चिम में भोजन, वायव्य में धान्य, उत्तर में द्रव्य, ईशान में देवपूजागृह होना चाहिए-

ऐन्द्रयां दिशि लानगृहमाग्रेय्यां पचनालयः।
यायायां शयनं वेश्म नैर्ऋत्यां शस्त्रमन्दिरम्॥
वारुण्यां भोजनगृह वायव्यां धान्यमन्दिरम्।
उदीच्यां हाटकं सद्म ऐशान्यां देवमन्दिरम्॥ (वशिष्टसंहिता 39, 164-165)

इसी प्रकार स्थपति का निवास स्थल, मुख्य श्मशान स्थान, ग्राम में विपरीत विन्यास से शुभाशुभता, मन्दिर आदि के सूना होने के परिणाम, ग्रामादि में गर्भ विन्यास का माहात्म्य, विन्यास में उपयोगी सामग्री, विन्यास का क्रम, ताम्रपात्र के लक्षण, उपपीठ पर देवताओं का न्यास व उनके धातु आदि, लोकेश विषयक निर्देश, शेष देवपदों पर रलादि न्यास निर्देश दिया है। साथ ही विशेष ज्ञातव्य, चारों दिशोपयोगी स्वस्तिक, धान्य धातु निक्षेपण, यलि कृत्योपरान्त सम्भार संयोजन, गर्भ विन्यास का फल भी कहा गया है।

मयमतम् के 10वें अध्याय में नगर निवेश का वर्णन आया है। ग्रन्थकार सर्वप्रथम नगरादि के लिए मानादि का वर्णन करता है। यह वर्णन नगर निवेश के लिए आवश्यक इसलिए है कि मानादि के अभाव में नगरादि के लिए आय-व्ययादि का ज्ञान नहीं हो पाता और यह तत्कालीन परम्परा भी प्रतीत होती है कि प्रत्येक बस्ती का भूभाग निश्चित आकार सम्मत हो, अधिक होने से वहाँ का स्वरूप बिगड़ जाता है। जिससे वास्तुदोष हो सकता है, ऐसे में वास्तु सम्पत नगर नियोजन होना चाहिए। यह अध्याय विविध प्रकार के नगरों के मान, वप्र विधान, विभिन्न वर्ज्यस्थान, मार्ग और पथ, राजधानी, खेड़ा-खेट, दुर्ग, नगरीय विन्यास अन्तरापण या बाजार आदि का वर्णन लिए हुए है। मानसार के दसवें अध्याय में नगर का विधान आया है। अन्य वास्तु ग्रन्थों में भी नगर प्रमाणादि का वर्णन है।

भय से किंचित विस्तार के साथ मानसार का वर्णन हैं। मानसार में आठ प्रकार के नगर कहे गए हैं। यथा- राजधानी, नगरों, पुर, नागरी, खेट, खघंट, कुब्ज तथा पत्तन-

खेटकखर्वटकादि मानं ग्रामोकवद्भवेत्॥
सर्वेषां नगरादीनां भेदो लक्षणमुच्यते।
नगरं राजधानीयं केवलं नगरं तथा॥
पुरं च नगरी चैव खेटं खर्वटमेव च।
कुब्जकं पत्तनं चैव शिबिरं वाहिनीमुखम्॥
स्थानीयं द्रोणकं चैव संविद्धं कोलकं ततः।
निगमं स्कन्धावारं च दुर्ग चाष्टविधं भवेत्॥ (मानसार 10, 18-21)

कामिकागम में महानगर का नाम कुब्ज दिया गया है। कामिकागम में पच्चीस नाम उपलब्ध होते हैं। यथा- दण्डक, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, पद्म (पद्मक), स्वस्तिक, प्रस्तार, कार्मुक, चतुर्भुज, प्रकीर्णक, पराग, श्रीप्रतिष्ठित, सम्पत्कर, कुम्भक, श्रीवत्स और वैदिक शब्दकल्पद्रुम में पुटभेदन वर्णन में कहा गया है- एकविप्रवरागारं ततः कुटुम्बसमन्वितम्। एकयोगं भवेद्ग्राम तद्भृत्यायतनावृतम्॥ इसी प्रकार राजवल्लभ में कहा गया है- ग्रामश्चैव पुरार्द्धतो हि तदनु ग्रामार्द्धत: खेटकं खेटार्द्धेन तु कूटमेव वियुधैः प्रोक्तं ततः खर्वटम्॥ (राजवलभ. 4, 9)

मयमतम् ने 78 प्रकार से नगर की चौड़ाई, क्षुद्रनगरों के प्रमाण, उत्कृष्टपुर के प्रमाण, तीन प्रकार के खेट के प्रमाण, द्रोणमुख के प्रमाण, खवंट के प्रमाण, निगम के पाँच प्रकार के प्रमाण, कोत्मकोलक को पाँच प्रकार से चौड़ाई, विडम्ब संज्ञक बस्ती के प्रमाण का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में मानसार में भी सविशेष्य उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानसार के वर्णन का उत्स मय या इन दोनों का उत्स कोई तीसरा ही ग्रन्थ रहा है। मानसार का नगरादि वर्णन मयमतम् से तुलनीय है-

नगरादि संग्रामं च प्रोकदुर्ग च सत्तमम्।
राष्ट्रमध्ये नदीतीरे बहुपुण्यजनावृतम्॥

मध्ये राजयुतं चैव नगरं कृतमिष्यते।
तत्रागते नगर्यन्तं यदि विष्ण्वालयं भवेत्॥
राजधानीति तन्नाम विद्वद्भिर्वक्ष्यते सदा।
चतुर्दिशु चतुर्द्वारं गोपुरैश्य समन्वितम्॥
रक्षागृहै: समाकीर्ण विष्वक्सेनालयान्वितम्।
वणिग्भि समाकीर्णमापणैश्च समावृतम्॥
अन्तर्बहिर्जनैः पूर्ण नानादेवालयैरपि।
केवलं नगरं प्रोक्तं य तत् तन्त्र पारगैः॥
काननोद्यान संयुक्तं नानाजनगृहान्वितम्।
क्रयविक्रयविद्भिश्च वैश्यरवेण संयुतम्॥
देवसप्तसमायुक्तं पुरमेतत्प्रकथ्येते।
अस्यान्ते राजनिलय नगरीति तदिष्यते॥
नदीपर्वतप्रान्ते च शूद्रालयसमन्वितम्।
महाप्रावृतसंयुक्तं खेटमुक्तं पुरातनैः॥
परितः पर्वतैर्युक्तं नानाजातिगृहैर्वृतम्।
सर्वप्रचारसंयुक्तपंतत्खवंटमीरितम्॥
खेटखर्वटयोर्मध्ये सर्वमयलयान्वितम्।
वप्राभावस्यत्वे तु तत्तु कुष्सकमुदाहृतम्॥
अब्धितोरप्रदेशे तु नानाजातिगृहैर्वृतम्।
वणिग्जातिभिराकीर्ण क्रयविक्रयपूरितम्॥
रीमान्तरानीतैः क्षीमै कर्पूरकादिभिः।
एतत्पत्तनमाख्यातं वप्रायतसमन्वितम्॥
अन्यभूपाल भूप्यन्ते युद्धारम्भ क्रियान्वितम्।
सेनानामयतानां च पृतनाभिः समन्वितम्॥
तदेतचिद्रविरं प्रोकं मन्त्रविद्भिः पुरातनैः।
नानाजनैश्च सम्पूर्ण भूपहम्र्येण संयुतम्॥
बहुरासमोपेतमेतत्सेनामुखं भवेत्।
नदीषार्धाद्रिसंयुक्तं भूपालालय संयुतम्॥
बहुतक्षमायुक्तं नित्यं सन्नूषसंयुतम्।
स्थानीयं सर्वविद्वद्भिः प्रोक्तं बहुसुखावम्॥
समुद्रतटिनीयुक्तं तटिन्या दक्षिणोत्तरे।
वणिग्भिः सह नानाभिर्जनैर्युक्तं जनास्पदम्॥

नगरस्य प्रतितटे ग्राहकै छ समावृतम्।
क्रयविक्रयसंयुक्तं द्रोणान्तरमुदाहृतम्॥
महाग्रामसमोपे तु शुल्लकग्रामसंयुतम्।
तनगरं स्यादाश्रयाद ग्रहोरोपजीविनाम्।
तस्मातु तत्र विद्वद्भिः संबिद्ध तदुदीरितम्।
महाराजस्य मध्ये तु गृहं तत्कोलकात्मकम्॥
द्विजातिचतुर्वर्णवर्णान्तरजनैर्वृतम्।
यहुकर्मकरैर्युक्तं निगमं तदुदाइतम्॥
नद्यादिकाननोपेतं बहुतीरजनालयम्।
राजमन्दिरसंयुक्तं स्कन्धावारमुदाहृतम्॥
पार्श्वे चान्य द्विजातीनां गृहं तथेरिकमक्तम् (मानसार 10, 22-43)

मयमतम् ने पुर में वप्र या चारदीवारी का प्रमाण, वप्र के अधोभाग की मोटाई, निषिद्ध स्थान का निर्देश, मार्ग के विषय में स्मरणीय बातों को लिखा है। यप्रादि का वर्णन अर्थशास्त्र में भी आया है। (अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण 2, 1-4) यह पूर्वकाल को आवश्यकता के रूप में नगरादि की निर्मिति है। मनुष्यालयचन्द्रिका में कहा गया है कि नगर और ग्राम में (या गढ़ अथवा दुर्ग) की सीमावर्ती एक दण्ड तक भूमि को छोड़ते हुए चारदीवारों, भित्तियों जिन्हें 'वप्र' कहा जाता है, को गारा और पत्थर से बनाया जाना श्रेष्ठ माना गया है। इसको घेरने वाली परिखा या खाई मध्यम कोटि की और हम शाखादि से युक्त हो तो अधम कही जाती है। इसको आन्तरिक क्षेत्र में आवृत्त करने के लिए काँटे वाले पेड़ों को मजबूत डालियों, लताओं और बाँस आदि का उपयोग किया जाना चाहिए। इनके हेतु साधन द्रव्यों के अनुरूप एक ही तरह के वप्र का निर्माण श्रेष्ठ है और वन की समस्त दिशाओं में वृक्षों का आरोपण करवाया जाना चाहिए- दण्डानं समतीत्य वप्रमुदितं मृद्भिः शिलाद्यैस्तथा श्रेष्ठं तत् परिखा तु मध्यममते शाखावृतिधाधमम्। तत्पानादिपु कण्टकिद्रुमलता ग्राह्याश्च येण्वादयः कुर्याद् द्रव्यवशादिहेकमुदितान्वृक्षांध दिक्षु क्रमात्॥ (मनुष्यालय चन्द्रिका 7, 43)

इसके उपरान्त ग्रन्थकार ने राजा के महलों वाले राष्ट्र का वर्णन किया है और केवल के अन्य विविध लक्षण, राजधानी के लक्षण, विपणन की सुविधा वाले नगर, खेट, खर्बट और कुब्ज के लक्षण बताए हैं। इसी प्रकार पत्तन की विशेषताओं को लिखा है। इसके बाद ग्रन्थकार ने शिविर के लक्षण, सेनामुख, स्थानीय, द्रोणमुख, विडम्ब, कोत्मकोलक, निगम और स्कन्धावार के लक्षणों को बताया है। हमारे यहाँ दुर्गों के निर्माण की परम्परा रही है। प्राचीन सभ्यताओं के उत्खनन में मृदुर्ग (मडफोर्ट) के अवशेष भी मिले हैं। बस्तों की रक्षा के उद्देश्य से दुर्गों का निर्माण होता आया है। रामायण, महाभारतादि सहित मनु आदि स्मृतियों और राजनीति विषयक निबन्ध ग्रन्थों में दुर्गों का विवरण प्रधानता से मिलता है। कृत्यकल्पतरु, नीतिप्रकाशिका, शुक्रनीति, नीतिमयूख, कामन्दकीय नीतिसार आदि में भी दुर्गों का वर्णन है। इसी प्रकार मत्स्यपुराण व विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी दुर्गवर्णन है। इनको एक शक्ति के रूप में भी देखा गया है। ग्रन्थकार ने नाना प्रकार के दुर्गों के वर्णन में पार्बत दुर्ग के लक्षण, वनदुर्ग, मिश्र, दैवदुर्ग, पङ्कदुर्ग, जलदुर्ग और ईरिणदुर्ग के लक्षणों को प्रदर्शित किया है। प्राचीन दुर्ग परम्परा की जानकारी देने के उद्देश्य से यह विवरण बहुत काम का है। इसी प्रकार इसमें दुर्ग में आवश्यक सामग्री, दुर्ग में मार्ग, द्वार और सोपान, दुर्ग के किंवाड़ों को रचना के निर्देश, प्राकार विन्यास के प्रकार, प्राकार की ऊँचाई, दैव्यं का प्रमाण, युद्ध के लिए उपयोगी यन्त्रादि के नियोजन, चतुर्दिक शिविर, दुर्ग में संगृहणीय सामग्री, अन्यान्य निर्देश और निर्माण का प्रयोजन बताया गया है। मनु ने कहा है- धन्यदुर्ग, महीदुर्गमब्दुर्ग वार्क्षमेव वा।

नृदुर्ग गिरिदुर्ग वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्। एपां हि बाहुगुण्येन गिरिंदुर्ग विशिष्यते ॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगतां श्रयाऽप्सराः। त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः॥ यथा दुर्गाश्रितानेतान्त्रीप हिंसन्ति शत्रवः। तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ (मनुस्मृति 7,70-73) शुक्रनीति में आया है यामिकै रक्षितो नित्यं नालिकास्त्रे सयुतः । सुबहुढगुल्मच सुगवाक्षप्रणालिकः ॥ स्वहीनप्रतिप्राकारो ह्यसमीपमहीधरः। परिखा च ततः कार्या खाताद्विगुणविस्तरा नातिसमीपप्राकारा ह्यगाधसलिला शुभा युद्धसाधन सम्भारैः सुयुद्धकुशलैर्चिना ॥ न श्रेयसे दुर्गबासो राज्ञः स्याद्वन्धनाय सः। (शुक्रनीति 1, 239-242) इसी प्रकार मत्स्यपुराण में आया है- दुर्गं च परिखोपेतं वप्राट्टालकसंयुतम्। शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतश्च समावृतम्। गौपुरं सकपाटं च तत्र स्यात्मनोहरम्। सपताकं गजारूडो पेन राजा विशेत् पुरम्॥ (मत्स्यपुराण 217, 8-9)

इसी प्रकार कृत्य निर्देश के अन्तर्गत दुर्गनिवेश में स्थापनीय, पूजनीय देवादि, नगरादि वास्तु विन्यास का कथन, नगरों में मार्ग निवेश, मार्गों की संख्यादि के अनुसार संज्ञाएँ, नगरोचित वेदोभद्र विन्यास, चार मार्ग वाली संरचना, पाँच मार्ग वाली संरचना, छह मार्ग वाली संरचना, सात मार्ग वाली संरचना, आठ मार्ग वाला विन्यास, नौ मार्ग विन्यास वाला नगर, दस मार्ग वाली संरचना, ग्यारह मार्ग वाली नगर संरचना, मार्गच्छेद निषेध या रास्ता नहीं काटने का निर्देश है। यथा-

नगरप्रकार	पूर्व-पश्चिम मार्ग	उत्तर दक्षिण मार्ग मार्ग
दण्डक	1 मार्ग	
कर्तरीदण्डक	1 मार्ग	1 मार्ग
बाहुदण्डक	2 व कुट्टिममार्ग	1 मार्ग
कुटिकामुखदण्डक	1 व मध्य में कुट्टिम	1 मार्ग
कलकावन्धदण्डक	3 व मध्य में कुट्टिम	3 मार्ग
वेदोभद्रक	3 व कुट्टिममार्ग	3 मार्ग
स्वस्तिक	6 मार्ग	6 मार्ग
भद्रक	4 व मध्य में 3 कुट्टिम	6 मार्ग
भद्रमुख	5 मार्ग	नाना मार्ग
भद्रकल्याणक	6 मार्ग	बहुमार्ग
महाभद्र	7 मार्ग	बहुमार्ग
सुभद्र	8 मार्ग	8 मार्ग
जयांग	9 मार्ग	9 मार्ग
विजय	10 मार्ग	10 मार्ग
सर्वतोभद्र	11 मार्ग	11 मार्ग

नगर में वर्णिक् वीथि और अन्य प्रजाश्रय, कुम्हारों, कर्मकारों के आवास, तम्बोली, पंसारी आदि के प्रतिष्ठानों के निर्देश भी हैं। इसके अतिरिक्त व्यापारिक प्रतिष्ठान और सब्जीमण्डी, खाद्य वस्तुओं के केन्द्र और अग्रिजीवियों का स्थान, काँसा आदि धातुओं के शिल्पी व वस्त्र विक्रेता, धान्य विक्रेता व वस्त्र विक्रेता, खारोल, तेली, इत्र विक्रेता एवं मालाकार, आन्तरिक मार्गों पर अन्तरापण और वहाँ देवताओं की स्थापना, कोलिकादि के निवास और पत्तन के विशिष्ट लक्षण दिए हैं। इनको मयमतम् में मैंने पादटिप्पणियों सहित स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय में नगर नियोजन में नाना आवश्यकताओं को ध्यान में रखा और सर्वांगीण नगर का आधारचित्र प्रस्तुत किया है।

पुराणोक्त नगरों के लक्षण

ब्रह्माण्डपुराण, मार्कण्डेयपुराण और भविष्योत्तरपुराण में ग्राम, नगरादि के लक्षण कहे गए हैं। बस्तियों के रूप में नगरों के जो लक्षण हमें मिलते हैं, वे उनके आकार और लम्बाई चौड़ाई के आधार पर ज्ञात होते हैं। भोजराज ने युक्तिकल्पतरु में भविष्योत्तर से नगरों के जो लक्षण दिए हैं, वे निवेश दृष्टि से निर्देशमूलक होने से प्रधान निवेशकों के लिए विचारणीय हैं। पुराण में कहा गया है कि शासक को दीर्घ या चौकोर नगर बसाना चाहिए। नगर त्रिकोण या वर्तुलाकार भी बसाए जा सकते हैं

दीर्घं वा चतुरनं वा नगरं कारयेनृपः।
तत्र्यस्रं वर्त्तुलं वापि कदाचिदपि कारयेत्।। (युक्तिकल्पतरु नगरयुक्ति 145)

इसमें कहा गया है कि जो एक पाद से दीर्घतः प्रसारित हो, वह चतुरस्र नगर होता है। तीन पाँव से समानतः प्रसारित हो तो वह त्रिकोणीय नगर कहा जाता है जबकि वर्तुल नगर वलयाकृति वाला होता है। इनमें दीर्घ आकृति वाला नगर दीर्घकाल तक सुखसम्पत्ति का हेतु होता है, चौकोर नगर राजा के लिए चारों फल देने वाला होता है। त्रिकोण नगर तीनों शक्तियों का नाशक होता है तथा वर्तुलाकार नगर बहुत से रोगों का कारक होता है-

दीर्घं पादैकप्रसरञ्चतुरस्रं समोचितम्।
त्रिभिः पादैः समं त्र्यस्रं वर्तुलं वलयाकृति।।
दीर्घं स्याद्दीर्घकालाय सुखसम्पत्तिहेतवे।
चतुरस्रं चतुर्वर्गफलाय पृथिवीभुजः।।
त्र्यस्रं त्रिशक्तिनाशाय वर्तुलं बहुरोगकृत्। (उपर्युक्त 146 148)

इन नगरों के लिए लम्बाई के जो गजमान होता है, उसके लिए कहा गया है कि राजा का अपना दस हाथ प्रमाण राजदण्ड कहा जाता है। दस राजदण्डों के बराबर राजछत्र का प्रमाण होता है। दस राजछत्र के बराबर राजकाण्ड होता है और दस राजकाण्ड के बराबर राजपुरुष होता है

राज्ञ: स्वहस्तैर्दशभी राजहस्त उदाहृतः।।
राजहस्तैश्च दशभी राजदण्ड उदाहृतः।
राजदण्डैश्च दशभी राजच्छत्रमुदाहृतम्।।
राजच्छत्रैश्च दशभी राजकाण्ड उदाहृतः।
राजकाण्डैश्च दशभी राजपूरुष उच्चते।। (उपर्युक्त 148-151)

इस प्रमाण से जो दस राजपुरुष के बराबर नगर होगा, वह राजधानी होगी। राजधानी की अपेक्षा दस गुणा प्रमाण से राजक्षेत्र कहा जाता। सात राजपुरुष के बराबर पुर पत्तन कहा जाता है-

राजधानी तु कथिता दशभी राजपूरुषैः।
राजधानी दशगुणा राजक्षेत्रमुदाहृतम्।।
सदैव परिमाणानि प्रोक्तानि पुरपत्तने। (उपर्युक्त 151-152)

यह भी कहा गया है कि भय के निवारण, भोग, सम्पत्ति, लोगों की कीर्ति और सुखों की चाह के उद्देश्य से राजा को अपने शासित क्षेत्र पर और पत्तन का कार्य आरम्भ करना चाहिए।

भयत्राभोगसम्पत्तिमर्त्यकीर्त्तिसुखार्थिनाम्।

राजक्षेत्रेण नृपतिः पुरपत्तनमारभेत्।। (उपर्युक्त 152-153)

इसके लिए 1. लक्ष्मीनगर, 2. जय, 3. क्षमा, 4. सौख्य, 5. पंचतत्व, 6. भंग, 7. एकता, 8. समृद्धि, 9. वित्तनाश, 10. मंगल, 11. बल, 12. क्षय, 13. साम्राज्य, 14. भोग, 15. सम्पत्ति एवं 16. यथार्थ ऐसे सोलह प्रकार के नगरों की रचना का वर्णन तत्त्ववेदी मुनियों ने किया है

लक्ष्मीर्जयः क्षमा सौख्यं पञ्चत्वं भङ्ग एकता।

समृद्धिवित्तं नाशच मङ्गलञ्च बलं क्षयः।

साम्राज्यं भोगसम्पत्तिरिति षोडश कीर्तिताः ।।

यथार्थसंज्ञा नगरा मुनिना तत्त्ववेदिना ।। (उपर्युक्त 153-155)

कहना न होगा कि ग्राम, नगरादि बस्तियों के विधिपूर्वक निवेश की परम्परा हमारे यहाँ बहुत दीर्घकाल से रही है। इनमें सुख-दुःख का बराबर ध्यान रखा जाता था। प्रजा का अभ्युदय हो, राज्य को सुख और समृद्धि मिले, इसके लिए अनेक बातों का ध्यान रखा जाता था। निश्चित ही भारत की अपनी बस्तियों के निवेश की गौरवशाली परम्परा रही है। इसीलिए शास्त्र हमें नगरादि निवेश के लिए आवश्यक बातों के पालन अनुशीलन के लिए निर्देशित करते हैं। वर्तमान में इन बातों को ध्यान रखकर बस्तियों के निवेश एवं उनके विस्तार आदि पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। ■

वास्तुशास्त्र और नगर विन्यास में जलप्रबन्धन

• डॉ.देशबन्धु

समस्त भारतीय विद्याओं के ही समान वास्तुविद्या का मूल उद्गम स्थल भी वेद ही है। अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद को ही भारतीय वास्तुशास्त्र का मूल माना जाता है। वास्तुशास्त्र पञ्चमहाभूतों तथा प्राकृतिक शक्तियों के भवन के साथ सामञ्जस्य को लेकर कार्य करने वाला शास्त्र है। पृथ्वी, जल,तेज,वायु तथा आकाश – ये पञ्चमहाभूत ही इस सृष्टि के मूल कारण हैं। इन पञ्च महाभूतों के गुणों में क्रमिक ह्रास है- यथा पृथ्वीतत्त्व में 5 गुण, जलतत्त्व में 4 गुण, तेजतत्त्व में 3 गुण, वायुतत्त्व में 2 गुण तथा आकाशतत्त्व में केवल 1 गुण ही विद्यमान है। इसको हम एक चक्र के माध्यम से समझ सकते हैं।

पञ्चमहाभूत- गुणबोधक चक्र

क्र.	पञ्चमहाभूत	सामान्य गुण	गुण
1.	पृथ्वी	शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गन्ध	गन्ध
2.	जल	शब्द,स्पर्श,रूप,रस	रस
3.	तेज	शब्द,स्पर्श,रूप	रूप
4.	वायु	शब्द,स्पर्श	स्पर्श
5.	आकाश	शब्द	शब्द

यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे के सिद्धान्त के अनुसार इस पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की साम्यता है। मानव के शरीर में पञ्चमहाभूतों का जो अनुपात है, वही अनुपात इस ब्रह्माण्ड में भी है तथा वही अनुपात भवन में भी है। भवननिर्माण में सर्वाधिक महत्त्व भूमि का है। भूमि किस प्रकार की हो? किस आकार की हो? किस वर्ण की हो? किस गन्ध की हो? इस सबके आधार पर भूमि का वर्गीकरण श्रेष्ठ-मध्यम-अधम भूमि के रूप में किया गया है। भूमि के ही समान जल का महत्त्व भी विविध शास्त्रों में रेखांकित किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जल में अमृतोपम गुण है , जल में औषधीय गुण है, हे देवों! ऐसे जल की प्रशंसा से आप उत्साह प्राप्त करें।

तद्यथा-

अप्स्वऽन्तरमृतमप्सु भेषमपामुत प्रशस्यते। देवाभवत भवत वाजिनः ।।

वैदिक शब्दों के संग्रह निघण्टु में जल के लिए सलिलम्, क्षीरम्, उदकम्, रस, तीरम्, जलम्, वारि, आप, अमृतम्, वारि,अम्बु आदि 101 जलवाचक शब्दों का संग्रह है। वस्तुतः मानव की मूलभूत आवश्यकताएं रोटी, कपड़ा और मकान हैं परन्तु ये सभी जल पर ही आश्रित हैं। जल के बिना इन तीनों का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है अतः जल ही सबसे मूल्यवान् है। आज के इस आधुनिक युग में जल का प्रदूषित होना तथा जल का व्यर्थ होना सबसे बड़ी वैश्विक समस्याओं में से एक है। प्राचीन काल का मानव, जिसे असभ्य कहते हैं, वह जल जैसे प्राकृतिक उपहारों के संरक्षण के सम्बन्ध में जागरूक था, परन्तु आज जल प्रदूषण सबसे बड़ी समस्याओं में से एक है। स्वच्छ जल की उपलब्धता आज की सरकारों के चुनावी मुद्दे हैं, जबकि यह एक मौलिक अधिकार है। जल प्रदूषण तथा स्वच्छ जल की कमी के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं -

- भूमिगत जल का अत्यधिक दोहन
- जनसंख्या वृद्धि
- वृक्षों की कटाई
- पर्यावरण क्षति
- जल प्रदूषण
- शहरीकरण
- आधुनिकीकरण
- औद्योगीकरण

यदि स्वच्छ जल की समस्या के इन सब कारणों का सूक्ष्मेक्षया विवेचन किया जाए तो इन सब के मूल में आधुनिक नगरों तथा महानगरों का विन्यास ही कारण रूप में प्राप्त होता है। विकसित नगरों के नाम पर ये महानगर मानव की मूलभूत आवश्यकता स्वच्छ जल भी प्रदान करने में सक्षम नहीं हैं। यद्यपि प्राचीन भारत के अनेक महानगर, जो नगरविन्यास की दृष्टि से आज के तथाकथित विकसित नगरों से कहीं अधिक आगे थे , इसके साथ ही साथ ही ऐसे प्राचीन नगरों में जल के संरक्षण की भी समुचित व्यवस्था थी। अयोध्यापुरी, किष्किन्धापुरी, लङ्कापुरी, इन्द्रप्रस्थपुरी, द्वारकापुरी, मिथिलापुरी आदि प्राचीन काल के विकसित नगरों के उदाहरण हैं।

कालान्तर में भी वास्तुशास्त्र के अनेक प्रमुख ग्रन्थों में नगरविन्यास के विविध सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। जल की उपलब्धता के आधार पर भूमि को जाङ्गल आदि तीन भागों में विभक्त किया गया है, जिनमें से अत्यन्त न्यून जल से युक्त प्रदेशों की संज्ञा जाङ्गल, जल से परिपूर्ण प्रदेश अनूप तथा मध्यम जल से युक्त प्रदेश साधारण कहलाते हैं। इन तीनों ही प्रकार के नगरों में नगरविन्यास में जल की उपलब्धता का विचार सर्वप्रथम करने की चर्चा वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होती है।

वनोपवनवत्यद्रिसरित्कुञ्जमनोहरा।
देहिनो रमयत्पूर्वी या सा कान्तेति कीर्तिता।।
तीर्थावतारकान्ताभिः स्वादुतोयाभिरावृताः।
नदीभिः पुलिनप्रान्तैर्विचित्रद्रुमशालिभिः।।
दलत्कुवलयश्रेणीक्वणन्मधुपहारिभिः।
सरसीदेवखाताद्यैर्भूषिताः प्राज्यवारिभिः।।

स्निग्धा सारभृतः शुद्धाः प्रदक्षिणजलाशयाः।
बहूदकास्तरुच्छन्ना निबिडाः प्रागुदक्प्लवाः।।

समराङ्गण सूत्रधार में ज्येष्ठसंज्ञक पुर 4000 धनुष के व्यास का कहा गया है। द्वितीय मध्यम पुर इसका आधा, तृतीय कनिष्ठ पुर इसका भी आधा अर्थात् 1000 धनुष के व्यास का कहा है। एक धनुष का मान 96 अङ्गुल है। पुर का विस्तार व्यास के आठवें , सपाद, आधे अथवा व्यास के तुल्य किया जाता है। सभी प्रकार के पुरों के विन्यास में चतुःषष्टिपदवास्तुमण्डल का प्रयोग किया जाता है। इन पुरों के बाहर परिखा युक्त वप्र का निर्माण होता है, इन परिखाओं में जल भरा जाता है, जिनमें जलज-कमलों को उगाया जाता है। जल की निकासी हेतु परिखा में छिद्र रखा जाता है। यथोक्तम्-

महारथ्याप्रमाणेन तद्भूमेर्बाह्यतस्ततः।
व्यासखातान्तरैः सार्धं विधेयं परिखात्रयम्।।

इसी प्रकार से मयमतम् में नगर का प्रमाण तीन सौ धनुष से आठ हजार दण्ड तक प्राप्त होता है। वहाँ नगरों के अठहत्तर भेदों की चर्चा की गई है। नगर का चतुरस्र, आयताकार, वृत्ताकार, वृत्तायताकार तथा गोलवृत्ताकार भेद से पाँच प्रकार का वप्र निर्मित किया जाता हैं। प्राकार मण्डल के चारों तरफ परिखा का निर्माण होता है तथा इन नगरों में अनेक मालिकाओं से युक्त गोपुर निर्मित किये जाते है। नगरों की वीथी योजना, हाट योजना आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है। नदीतीर, समुद्रतीर आदि पर स्थित नगरों के विविध भेदों की चर्चा भी मयमतम् में प्राप्त होती है। विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र में पद्मकादि 20 नगरों का लक्षणों सहित वर्णन किया गया है। इनमें से पद्मक, सर्वतोभद्र, कार्मुक, स्वस्तिक, देवनगर, वैजयन्त, पुटभेदननगर, जलनगर, नन्द्यावर्तनगर तथा राजधानी नगर का निर्माण समुद्र अथवा नदी के तटों पर होता है , इसके अतिरिक्त शेष नगरों में भी जलाशय, कूप , वापी आदि के माध्यम से नगर विन्यास से पूर्व ही जल की उपलब्धता के विषय में विशेष रूप से विचार किया गया है। इन समस्त नगरों के विन्यास से पूर्व इनके समीपस्थ क्षेत्रों में जल की उचित व्यवस्था को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। यथोक्तम्-

वनोपवनवत्यद्रिसरित्कुञ्जमनोहरा।
देहिनो रमयत्पूर्वी या सा कान्तेति कीर्तिता।।
तीर्थावतारकान्ताभिः स्वादुतोयाभिरावृताः।
नदीभिः पुलिनप्रान्तैर्विचित्रद्रुमशालिभिः।।
दलत्कुवलयश्रेणीक्वणन्मधुपहारिभिः।
सरसीदेवखाताद्यैर्भूषिताः प्राज्यवारिभिः।।
स्निग्धा सारभृतः शुद्धाः प्रदक्षिणजलाशयाः।
बहूदकास्तरुच्छन्ना निबिडाः प्रागुदक्प्लवाः।।

इन नगरों के लक्षण वास्तुशास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों में विस्तार से प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ पद्मक तथा सर्वतोभद्र नगर के लक्षण संक्षेप में वर्णित है।

पद्मकनगरम्- सर्वदा जल की उपलब्धता वाली समचौरस भूमि पर निर्मित, अधिकतया नदियों की तट पर दो हजार राजदण्ड प्रमाण का तथा चार दिशाओं में गोपुरयुक्त द्वारों वाला, अनेक वीथियों-लघुवीथियों तथा नाना जातियों के निवास से युक्त होता है।

सर्वतोभद्रनगरम्- नदियों, नालों, झरणों के तटों पर चतुर्दिक् गोपुरद्वारों तथा न्यायशाला से युक्त समतल, समचौरस भूमि पर निर्मित, समसूत्र में राजवीथी या बृहद्मार्गों से युक्त, नगर-मध्य में राजमहल से युक्त होता है।नगरविन्यास हेतु भूमि पर जल का प्लवन विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी भी स्थान पर निर्माण हेतु पूर्वप्लवा, उत्तरप्लवा या पूर्वोत्तरदिक्प्लवा भूमि सर्वोत्तम है।

पूर्वप्लवा भूमि(गोवीथी) पर निर्मित नगर चिरकाल तक मानवों से युक्त रहता है तथा उत्तरप्लवा(गजवीथी) भूमि पर निर्मित नगर धनादि से युक्त समृद्ध होता है। तद्यथा-

पूर्वप्लवा वृद्धिकरी ह्युत्तरा धनदा स्मृता।।

तथा च-

अनूषरा बहुतृणा शस्ता स्निग्धोत्तरप्लवा।

प्रागीशानप्लवा सर्वप्लवा वा दर्पणोदरा।।

वास्तुशास्त्र में जलतत्त्व का विचार भी अनेक स्थलों पर किया गया है। सर्वप्रथम जब निवास हेतु भूमि का चयन करना हो अथवा किसी स्थान विशेष पर नगर विन्यास करना हो, तो भूमि की शुभाशुभ परीक्षा की जाती है और यह परीक्षण उस स्थान पर एक गड्ढा खोदकर किया जाता है, उस गड्ढे को जल से भरा जाता है और 100 पग दूर जाकर लौट कर आने पर उस जल का निरीक्षण किया जाता है। यदि उसमें जल यथावत् भरा हो तो वह भूमि सर्वोत्तम मानी जाती है, जल आधा रहने पर मध्यम तथा जल आधे से कम होने पर अधम मानी जाती है। इसके अतिरिक्त गड्ढे में जल डालने पर जल के घुमाव से भी भूमि की शुभता-अशुभता का निर्णय किया जाता है। इस प्रकार से वास्तुशास्त्र का प्रथम विषय ही निवास हेतु भूमि का चयन है और भूमि चयन करने में जलतत्त्व की महत्त्पूर्ण भूमिका है। इसलिए वास्तुग्रन्थों में कहा गया है कि जो भूमि अधिक जल से युक्त हो, वह निवास हेतु श्रेष्ठ होती है। तद्यथा-

अनूषरा स्निग्धवती प्रशस्ता च बहूदका।

तृणापलान्विता या सा मान्या वास्तुविधौ धरा।।

सम्पूर्ण भूमण्डल पर भी मानवों का निवास स्थान जल के निकट ही अधिक रहता है क्योंकि जल की आवश्यकता मानव को अपने प्रत्येक कार्य में रहती है। नदियों के निकट, समुद्र के निकट ही इस संसार की बड़ी सभ्यताओं का विकास हुआ। यदि कुछ नगर ऐसी भूमि पर भी विकसित हुए, जहाँ प्राकृतिक रूप से कोई नदी आदि जलस्त्रोत नहीं था तो मानव ने कृत्रिम रूप से बावड़ी, तालाब आदि का निर्माण कर उस नगर को विकसित स्वरूप प्रदान किया। आज भी कोई व्यक्ति अपने लिए निवास स्थान का चयन करने से पूर्व जल की स्थिति के विषय में सर्वप्रथम चिन्तन करता है। वर्तमान काल में भी गृह में जल की समुचित उपलब्धता हेतु बोरिंग,नलकूप, कुँआ, भूमिगत टंकी, ओवरहेड टंकी आदि के माध्यम से जल की आपूर्ति एवं भण्डारण की व्यवस्था की जाती है। जल की दिशा के सम्बन्ध में विचार वास्तुशास्त्र में सूक्ष्मेक्षया किया गया है। विशेष रूप से भूमिगत जल को ईशान में प्रशस्त माना गया है। जिन प्रदेशों में अथवा देशों में ईशान कोण में नदी , समुद्र अथवा किसी भी रूप में जल का स्त्रोत हो तो ऐसे देश अथवा प्रदेश अल्पावधि में ही उन्नति को प्राप्त करते हैं।गृह में भी विविध प्रकार की दिशाओं तथा विदिशाओं में जल की अवस्थिति होने का शुभाशुभ फल हमें वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता हैं। इसके अतिरिक्त वास्तुग्रन्थों में दकार्गल संज्ञक एक अध्याय प्राप्त होता हैं , जिसमें भूमिगत जल के अन्वेषण के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। जिस प्रकार से मानव के शरीर में विविध नाड़ियाँ होती है , उसी प्रकार से भूमि में भी जल की ऊंची-नीची शिराएं अर्थात् नाड़ियां हैं, जिनमें निरन्तर जल प्रवाहित होता है। वास्तुग्रन्थों में इन विविध जलशिराओं की अन्वेषण विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है तथा जनसामान्य के लिए जलोपलब्धि हेतु कुँआ, बावड़ी आदि के निर्माण को धर्म का कार्य मानते हुए इनके निर्माण करने वाले को अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है – ऐसा कहा गया है। कुँआ खुदवाने का फल अग्निष्टोम यज्ञ के तुल्य तथा मरुस्थल में जनसामान्य के लिए जलोपलब्धि करवाने का फल अश्वमेध यज्ञ के तुल्य कहा गया है। ऐसा पुण्यकार्य करने वाला सभी पापों से मुक्त होकर मरणोपरान्त स्वर्ग में समस्त सुखों का उपभोग करता है। तद्यथा-

अग्निष्टोमसमः कूपः सोऽश्वमेधसमो मरौ।
कूपः प्रकृतपानीयः सर्वं हरति दुष्कृतम्।।
कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समश्नुते।।

भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम विकसित सभ्यता है। जिसका प्रमाण विभिन्न स्थानों पर हुई खुदाई से प्राप्त अवशेष है। हड़प्पा में हुई खुदाई से 8 कूपों का प्रमाण प्राप्त हुआ है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त साक्ष्यों में प्रत्येक घर में जलव्यवस्था का प्रमाण प्राप्त हुआ है। आड्गल विद्वान माईकल जॉन्सन के अनुसार मोहनजोदड़ो में लगभग 700 कूप थे। विविध धार्मिक कृत्यों में प्रयुक्त होने वाले सार्वजनिक कुण्डों के साक्ष्य भी प्राप्त हुये हैं। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, धोलावीरा सभ्यता कालीन छोटे से छोटे नगरों में भी जल निकासी की समुचित व्यवस्था के साक्ष्य प्राप्त होते है। प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में जल प्रबन्धन के तीन प्रकार प्रमुख रूप से प्राप्त होते हैं।

- कूपनिर्माणम्
- वापीनिर्माणम्-
- तडागनिर्माणम्
- कुण्डनिर्माणम्

समराङ्णसूत्रधार में नगर में चार प्रकार के वारि-गृहों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनमें धारागृह, प्रवर्षण गृह, प्रणाल गृह, जलमग्नगृह तथा नन्द्यावर्तगृह है।धारागृह में जलक्रीड़ा हेतु जल को पाइप के माध्यम से ऊँचा ले जाकर छिद्रों से युक्त बांस के माध्यम से फव्वारों के रूप में छोड़ा जाता है, इसके अतिरिक्त सूंड से जल बरसाते हाथियों की प्रतिमा तथा अपनी नाभि , नेत्रों, नखों तथा स्तनों से जल बरसाती स्त्रियों की प्रतिमाओं के निर्माण की चर्चा भी समराङ्गणसूत्रधार में प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अनेकों प्रकार से जलाशयों के निर्माण तथा उनके सौन्दर्यीकरण की चर्चा समराङ्णसूत्रधार में प्राप्त होती है , वापी के चारों ही कोनों पर चार रमणियाँ कमलपुष्पों के मध्य में स्थित अनेक अलङ्करणाभरणों से सुसज्जित कर निर्मित करने की चर्चा प्राप्त होती हैं। प्राचीन भारतीय नगरों जैसे हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, कालीबंगा आदि में जलनिकासी के सम्बन्ध में वर्णन प्राप्त होता है कि जल निकास की व्यवस्था सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनों ही स्तरों पर विद्यमान थी। इष्टिका निर्मित प्रणालों के माध्यम से दूषित जल प्रवाहित होता था, इन प्रणालों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। मलिनजल के निष्कासन हेतु हडप्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल, कौशाम्बी आदि नगरों में प्रणालियों का निर्माण योजनाबद्ध होने का प्रमाण प्राप्त होता है। इन प्रणालों का निर्माण राजमार्ग के साथ- साथ ही करने का निर्देश है। नगर में गन्दे तथा बरसाती जल के निर्गमन हेतु नालियाँ, गटर आदि को पत्थरों और लकड़ी से ढँकी हुई बनाना चाहिए। ये दो या एक हस्त चौड़ाई वाली बनानी चाहिए, किन्तु इनमें जल प्रदक्षिणतः प्रवाहित होते रहना चाहिए। तद्यथा-

जलभ्रमान् पुरे कुर्याच्छिलादारुतिरोहितान्।
द्विकरान् करमात्रान् वा साम्भसोऽस्मिन् प्रदक्षिणान्।।
समराङ्गणसूत्रधार में गृहादि से जलनिर्गमस्थल को उदकभ्रम कहा गया है। तद्यथा-
जलनिर्गमस्थानं विज्ञेयमुदकभ्रमः।

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में इन कूप इत्यादि के खननारम्भ आदि के विषय में मुहूर्त विचार की चर्चा तो प्राप्त होती ही है, उसके साथ-साथ इनके विविध लक्षणों एवं भेदों का वर्णन भी प्राप्त होता है।

वापी के लक्षण तथा भेद-

जिस स्थान पर चिरकाल तक मीठे पानी के स्रोत रहने वाले हों, वहां वापी का निर्माण करना चाहिए। तद्यथा-

यत्र स्वादुजलस्रावः सन्ततं स्थितिभाग्भवेत्।
परीक्ष्य तत्र कर्तव्यं वापीकूपादिकं मतम्।।

एक मुख तथा तीन कूटों वाली वापी को नन्दा, दो मुख तथा 6 कूटों वाली वापी को भद्रा, तीन मुख तथा नव कूटों वाली वापी को जया तथा 4 मुख तथा 12 कूटों वाली वापी को विजया कहते हैं। कूट वापी का वह खण्ड है , जिसके ऊपर स्तम्भ एवं शिखर आदि का निर्माण होता है। तद्यथा-

वापी ना नन्दैकमुखी त्रिकूटा, षट्कूटिका युग्म मुखा च भद्रा।
जया त्रिवस्त्रा नवकूटयुक्ता त्वर्केस्तु कूटैर्विजया मता सा।।

इसमें से भी पूर्वापरा वापी में जल का संरक्षण चिरकाल तक होता है। दक्षिणोत्तरा वापी में जल का संरक्षण चिरकाल तक नहीं होता क्योंकि ऐसी वापी वायु के तरंगों के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार की वापी के किनारों को सुदृढ काष्ठ तथा पाषाण आदि से निर्मित करना चाहिए। तद्यथा-

पाली प्रागपरायताम्बु सुचिरं धत्ते न याम्योत्तरा
कल्लोलैरवदारमेति मरुता सा प्रायशः प्रेरितैः।
तां चेदिच्छति सारदारुभिरपां सम्पातमावारयेत्
पाषाणादिभिरेव वा प्रतिचयं क्षुण्णं द्विपाश्वादिभिः।।

वापी के किनारों पर अर्जुन, वट, आम, पिलखन, कदम्ब, निचुल, जामुन, बेंत, नीप, कुरबक, ताल, अशोक, मधूक, बकुल, मोलसरी आदि वृक्षों का रोपण भी करना चाहिए। वापी के एक तरफ जल के निर्गम हेतु पाषाण से बंधवाया हुआ एक मार्ग बनाना चाहिए। उस मार्ग को छिद्र रहित काष्ठ से ढंककर मिट्टी से सुदृढ़ रखना चाहिए। वापी में जल के निकट ही विहार के लिए आंगण बनाने की चर्चा है। ये आँगण स्तँम्भो से युक्त अथवा रहित तथा संख्या में एक-दो अथवा तीन भी हो सकते है। इनमें सोपान तथा मुख मण्डपों की रचना भी की जाती है-

जालान्तिकेऽङ्गणं कल्प्यमाद्यमेतदुदीरितम्।
द्वितीयाङ्गणकं वापि तृतीयाङ्गणकं तु वा।।
सपादं वा विपादं वा युक्तया स्थापनमीरितम्।
कल्पनं दार्ढ्यसंयुक्तं पादसोपानमञ्जुलम्।।

इसी प्रकार से वर्तुलाकार वापी में जल की सतह तक पहुँचने हेतु भित्ति के साथ-साथ सर्पाकार, मुड़ती हुई सीढियाँ निर्मित करनी चाहिए। जल निकालने हेतु रहट का प्रयोग होना चाहिए। सोपान का आकार कभी भी चौबीस अङ्गुल से कम ना हो तथा सूत्रपङ्कित में निर्मित हो। सोपानों में स्थान-स्थान पर किन्नर मिथुनों, वरुण तथा अन्य पूज्य देवताओं की मूर्तियाँ निर्मित करनी चाहिए -

वाप्यां वर्तुलरूपायां भुजङ्गावेष्टनाकृति।
पङ्कतिं दृढां वा रचयेदथवा सूत्रपङ्कितम्।
चतुर्विंशत्यङ्गुलेव विहीनं नेष्यते बुधैः।।
घटीयन्त्रस्थलं तीरे रचयेत्साङ्गणं बुधः।
अवगाहतलोपेतद्वारकिन्नररूपकम्।।

कल्पनं देवमूर्तीनामथवा सम्प्रयोजयेत्।।

कूप के लक्षण एवं भेद

वास्तुग्रन्थों में श्रीमुख, वैजय, प्रान्त, दुन्दुभि, मनोहर, चूड़ामणि, दिग्भद्र, जय, नन्द एवं शंकर आदि संज्ञक कूपों की चर्चा प्राप्त होती है।तद्यथा-

द्विमुख-विजय-प्रान्त-दुन्दुभिः-मनोहर-मनोहर-चूडामणि-भद्र-जय-नन्द-शङ्करादयो दशभेदाः

श्रीमुख कूप चतुर्हस्त प्रमाण का होता है तथा उसके बाद के कूपों के प्रमाण में क्रमशः 1-1 हस्त की वृद्धि होती जाती है। जिन कूपों का प्रमाण 4 हस्त से कम का होता है , उनकी संज्ञा कूपिका है। तद्यथा-

कूपाः श्रीमुखवैजयौ च तदनु प्रान्तस्तथा दुन्दुभिः।
तस्मादेव मनोहरश्च परतः प्रोक्तस्तु चूड़ामणिः।
दिग्भद्रो जयनन्दशङ्करमतो वेदादिहस्तैर्मिता।
विश्वान्तैः क्रमवर्द्धितैश्च कथिता वेदादधः कूपिका।।

कूपों की इन संज्ञाओं का आधार इनका प्रमाण है , जिसको तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है –

क्र.सं.	कूपसंज्ञा	कूपस्य प्रमाणम्
1.	श्रीमुखः	चतुर्हस्तम्
2.	विजयः	पञ्चहस्तम्
3.	प्रान्तः	षट्हस्तम्
4.	दुन्दुभिः	सप्तहस्तम्
5.	मनोहरः	अष्टहस्तम्
6.	चूड़ामणिः	नवहस्तम्
7.	भद्रः	दशहस्तम्
8.	जयः	एकादशहस्तम्
9.	नन्दः	द्वादशहस्तम्
10.	शङ्करः	त्रयोदशहस्तम्
11.	कूपिका	चतुर्हस्ततः न्यूनम्

ग्राम, नगर अथवा गृह में कूप के स्थाननिर्धारण के विषय में वास्तुग्रन्थों में वर्णित है कि यदि कूप अथवा जल का स्थान गृह, ग्राम अथवा नगर के मध्य में हो तो धन की हानि होती है। ईशान कोण में स्थित कूप पुष्टिदायक, पूर्व दिशा में ऐश्वर्य, आग्नेय कोण में स्थित कूप पुत्रों का नाशक, दक्षिण में स्थित कूप स्त्री का विनाशक, नैऋत्य में स्थित कूप मृत्यु, पश्चिम में स्थित कूप सम्पत्तिप्रदायक, वायव्य में स्थित कूप शत्रुभयकारक, उत्तर में स्थित कूप सौख्यकारक होता है। तद्यथा-

कूपे वास्तोर्मध्यदेशेऽर्थनाशस्तवैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः।

सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च सम्पत्पीड़ा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम्।।

नगर की विविध दिशाओं में जल की स्थिति होने पर विविध प्रकार के फलों को इस तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है।

ईशान	
पुष्टि	पूर्व
ऐश्वर्यादि की वृद्धि	आग्नेय
पुत्रनाश	
उत्तर	
सुखप्राप्ति	वास्तु का मध्यभाग
धनहानि	दक्षिण
स्त्रीनाश	
वायव्य	
शत्रुओं से कष्ट	पश्चिम
सम्पत्ति-लाभ	नैऋत्य
मृत्यु	

सरोवर के लक्षण तथा भेद-

सरोभिर्जलैर्व्रियतेऽसौ – इस के अनुसार सरोवर से अभिप्राय जल के संग्रहस्थल से है। सरोवर दो प्रकार के प्राप्त होते हैं – प्राकृतिक तथा कृत्रिम। पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक सरोवर प्राप्त होते हैं जबकि समतल भूमि पर सरोवर मानव द्वारा निर्मित किये जाते हैं। प्राचीन काल से अमृतसर , मानसरोवर तथा पुष्कर सरोवर आदि सरोवरों का माहात्म्य ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। अन्तःकूप से युक्त, दक्षिणोत्तर लम्बाई तथा पूर्वापर विस्तार से युक्त, 12 अङ्गुल ऊँचे निर्गम मार्गों से युक्त कीचड़ तथा गन्दगी रहित तालाबों की रचना करनी चाहिए। तद्यथा-

अन्तःकूपसमायुक्तं दक्षिणोत्तरदैर्घ्यकम्।
वरुणेन्द्रदिशाभागस्थापि वा स्थलयोग्यकम्॥
तटाकनाम्ना भणितं महत्खातं हितप्रदम्।
निष्पङ्कगाधसलिलं पूरयेद्वा क्वचित्स्थलम्॥
जलनिर्गमनोपेतभागमायनसंवृतम्।
भान्वङ्गुलोन्नता पङ्कितर्द्विगुणायतिका मता॥

सरोवर के 6 भेद वास्तुग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। अर्धचन्द्राकार सरोवर को अर्धचन्द्रक, बौधयुक्त सरोवर को हासर, वृत्ताकार सरोवर को वृत्तसर, चौकोर सरोवर को चतुष्कोणसर, गमन मार्ग से युक्त सरोवर को भद्रसर, 4 गमनमार्ग एवं एक या दो बकस्थल से युक्त सरोवर को सुभद्र कहते हैं। इनमें से ज्येष्ठ सरोवर का विस्तार एक सहस्र दण्ड तथा लम्बाई 100 हस्त के तुल्य होती है ,मध्यम सरोवर का प्रमाण ज्येष्ठ का आधा होता है तथा कनिष्ठ सरोवर मध्यम के अर्ध प्रमाण के तुल्य होता है।तद्यथा-

सरोऽर्द्धचन्द्रं तु महासरश्च वृत्तं चतुष्कोणकमेव भद्रम्।
भद्रैः सुभद्रं परिधैकयुग्मं बकस्थैलकद्वयमेव यस्मिन्॥

ज्येष्ठं मितं दण्डसहस्रकैस्तु मध्यं तदर्धेन ततः कनिष्ठम्।
ज्येष्ठं करैः पंचशतानि दैर्घ्ये तदर्धमध्यं तु पुनः कनिष्ठम्।।

तालाबों के घाट 12 या 24 अङ्गुल विस्तृत सोपानों से युक्त, विश्राम तथा वस्त्रादि सामग्री रखने हेतु मध्य-मध्य में विस्तृत खुले स्थल से युक्त और मण्डपों से युक्त निर्मित करने चाहिए। तटों की शोभा हेतु पौधारोपण करना चाहिए तथा जलाशय के मध्य में शिखर युक्त देवालय की रचना करनी चाहिए। तद्यथा-

मध्य महापङ्कितयुक्तमृजुसूत्रं च निश्चलम्।
तीरमण्टपसंयुक्तं तीरवृक्षैश्च शोभितम्।।
जलमण्टपसंयुक्ता क्वचित्कार्योत्तमे।
दैवे तटाके तत्कल्प्यं विमानशिखरोज्ज्वलम्।।

तालाब के सोपानों पर मत्स्य की मूर्तियाँ, लता-बेल-पत्रों आदि को उत्कीर्ण करना चाहिए वानर-क्रीड़ा को चित्रों द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। अनेक निर्गम पङ्कितयों से युक्त अष्टमुखी तालाबों की रचना करनी चाहिए। तद्यथा-

रेखारूपं मीनरूपं लतारूपञ्च तक्षयेत्।
भूर्जपत्रक्षेपणं वा नानाङ्गणसमन्वितम्।।
वानरक्रीडनं वापि तक्षयेत्सुमनोहरम्।
क्वचिदष्टमुखोपेतं तटाकं बहुपङ्कितकम्।।

कुण्ड के लक्षण तथा भेद-

कुण्डयते रक्ष्यते जलं वह्निर्वा कुडि रक्षणे आधारे जलाशये वृत्ताकार च - इस वचन के अनुसार कुण्ड का निर्माण भी जल के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण है। विशेष रूप से प्राचीन काल में प्रत्येक मन्दिर का निर्माण किसी न किसी प्राकृतिक जलकुण्ड के समीप ही होता था, ऐसा ना होने पर कृत्रिम रूप से भी जल के कुण्ड के निर्माण की एक परम्परा प्राचीन मन्दिरों में दृष्टिगोचर होती है। नगरविन्यास में जलव्यवस्था हेतु कुण्डनिर्माण भी किया जाता था। भद्र, सुभद्र, परिध, नन्द आदि भेद से चार प्रकार के कुण्डों की चर्चा है। कुण्डों का प्रमाण आठ हाथ से शत हस्त पर्यन्त हो सकता है। कुण्ड के मध्य में गङ्गा प्रतिमा, सूर्यादि नवग्रहों की प्रतिमा, विष्णु के दशावतारों की प्रतिमा, एकादश रुद्र, दुर्गा, भैरव, षोडशमातृका, गणेश, चण्डी, कृष्ण तथा दिक्पालादि की प्रतिमा का निर्माण किया जाता है।कुण्ड की चारों दिशाओं में द्वार , चतुष्किका तथा पट्टशाला का निर्माण किया जाता है। चौकोर आकृति से युक्त कुण्ड भद्रसंज्ञक, भद्रयुक्त आकृति वाला कुण्ड सुभद्रक, प्रतिभद्र आकृति वाला कुण्ड नन्दसंज्ञक कहलाता है , कुण्ड के मध्य में भिट्ट निर्मित होने पर उसकी संज्ञा परिघ होती है। कुण्ड का प्रमाण 8 से 100 हस्त पर्यन्त हो सकता है। इसमें 4 द्वार तथा मध्य में गवाक्ष का निर्माण किया जाता है तथा चारों दिशाओं के कोणों में पट्टशाला का निर्माण किया जाता है। तद्यथा-

भद्राख्यं कुण्डं चतुरस्रकं तु सुभद्रकं भद्रयुतं द्वितीयम्।
नन्दाख्यकं स्यात् प्रतिभद्रयुक्तं मध्ये सभिट्टं परिघं चतुर्थम्।
कराष्टतो हस्तशतं प्रमाणं द्वारैश्चतुर्भिः सहितानि कुर्यात्।
मध्ये गवाक्षाश्च दिशो विभागे कोणे चतुष्कास्त्वपि पट्टशालाः।।

कुण्ड के मध्य स्थित भिट्ट पर गंगा आदि नदियों, द्वादश आदित्यों, भगवान् विष्णु के दशावतारों, एकादश रुद्रों, दुर्गा,

भैरव, मातृकाओं, चण्डिका, दुर्वासा, नारदमुनि, द्वारकापुरी की कृष्णलीलाएँ तथा ब्रह्मा आदि देवगणों का अङ्कन करना चाहिए। ऐसे कुण्ड में विधि पूर्वक स्नान करने पर गंगा स्नान का पुण्य प्राप्त होता है।

जल की शुद्धि -

वास्तु में जलतत्त्व का महत्त्व अनिर्वचनीय है। आज के इस युग में जल प्रदूषण अत्यन्त भयावह समस्या है। जल के निरन्तर प्रदूषित होने के कारण आज मनुष्य अनेकों असाध्य रोगों से पीड़ित होता जा रहा है। शुद्ध जल की कमी प्रायः भारत के प्रत्येक विकसित नगर की प्रमुख समस्या है।वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रदूषित जल की समस्या को दूर करने के लिए कुछ उपाय बताये गये है, जिनका प्रयोग कुण्डों,तड़ागों आदि की जल शुद्धि हेतु प्राचीन काल से होता रहा है। अञ्जन, मोथा, खस, राजकोशातक, आंवला, कतक का फल, इन सबका चूर्ण बनाकर कूप, तड़ाग, कुण्ड, टंकी के जल में डालना चाहिए, ऐसा करने से कलुषित्, कडुवा, खारा, बेस्वाद अथवा दुर्गन्ध वाला जल भी निर्मल, मधुर तथा सुगन्धयुक्त हो जाता है।तद्यथा-

अञ्जनमुस्तोशीरैः शराजकोशातकामलचूर्णैः।
कतकफलसमायुक्तैर्योगः कूपे प्रदातव्यः॥
कलुषं कटुकं लवणं विरसं सलिलं यदि वाशुभगन्धि भवेत्।
तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धि गुणैरपरैश्च युतम्॥

इस प्रकार से वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नगरविन्यास में जलप्रबन्धन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हुए विविध जल स्थानों तथा जल-निर्गमन के साथ-साथ जल को प्रदूषित होने से बचाने हेतु विविध प्रकार के उपायों की चर्चा भी प्राप्त होती है। ■

संस्कृत साहित्य में नगर नियोजन

• डॉ. सुजाता शाण्डिल्य

नियोजन का सामान्य अर्थ पहले से व्यवस्था करना है। भविष्य में विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने की संभावना को ध्यान में रखकर उसका समाधान खोजने की पूर्व व्यवस्था नियोजन का मूल उद्देश्य हैं। नियोजन का मुख्य उद्देश्य नागरिकों के जीवन स्तर में वृद्धि के लिये, उन्हें अधिक से अधिक सुविधा देने के लिए वर्तमान साधनों का इस प्रकार प्रयोग करना, जिससे उनका और समाज का अधिक से अधिक हित हो सके। और यदि नियोजन को नगर के साथ जोड़ते हैं तो नियोजन को एक परिधि से बाँध देते हैं। अर्थात् नगरीय समस्याओं के समाधान हेतु नगरीय नियोजन कार्यान्वित किये जा रहे हैं।

नगरीय नियोजन क्रियान्वयन का काम बड़ी ही तीव्रता से होता जा रहा है, जैसा कि संस्कृत साहित्य के रामायण महाकाव्य में अयोध्या का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।

निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥ 1॥

सरयू नदी के तीर पर विद्यमान कोसल नामक समृद्ध जनपद जो कि धनधान्य सम्पत्ति से सम्पन्न तथा यहाँ के सभी लोग प्रसन्न थे। उस जनपद में लोक विख्यात अयोध्या नाम की नगरी है जिसका निर्माण स्वयं मानवेन्द्र मनु ने किया। यह बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी, यहाँ के राजमार्ग विस्तृत तथा सड़कों पर सदा जल का छिड़काव होता रहता था तथा पुष्प बरसाये जाते थे। महाराज दशरथ ने इस नगरी को इन्द्र की नगरी अमरावती के समाना बसाया। इसके पश्चात् कुश एवं लव ने अयोध्या नगरी की समृद्धि का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां द्विजोत्तमैर्वे दपडङ्गपारगैः।

सहस्तदैः सत्यरतैर्महात्मभिर्महर्षिकल्यै ऋषिभिश्च कैवलैः॥ 2॥

अर्थात् अग्निहोत्र करने वाले, शमदमादि आत्मगुणों से युक्त, षड्गवेदों में पारङ्गत विद्वान, सहस्रों का दान करने वाले सत्यवादी ब्राह्मण उस अयोध्या नगरी में निवास करते थे। महर्षियों के समान ऋषियों से युक्त नगरी की रक्षा महाराज दशरथ करते

थे। महाराज दशरथ राजोचित समस्त गुणों से सम्पन्न तथा प्रजा को अत्यन्त प्रिय थे। वहीं अयोध्या विकसित होते हुए आज पूर्णता की ओर अग्रसर है जहाँ आज श्रीराम मंदिर की भव्यता को देखने के लिए र दर्शन के लिए दर्शनार्थियों की कतार लगी रहती है।

संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् कालिदास ने भी मेघदूत में नगरों का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। कालिदास की प्रकृति उपकार करती है और उपकार को मानती है। आम्रकूट पर्वत के वनों में लगी आग को कालिदास के मेघ मूसलाधार वर्षा द्वारा बुझाकर उपकार करते हैं। जिसके लिए आम्रकूट भी कृतज्ञ हैं वह थके हुए मेघ को अपने सिर पर ले लेता है।

त्वामा सारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न शुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मिले भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथेच्चैः ॥ 3 ॥

निर्विन्ध्या नदी मेघ के वियोग में कृश हो गई है। जल की पतली धारा विरहावस्था को सूचित करने वाली उसकी चोटी है। तटवर्ती वृक्षों से गिरे पीले फ्तों के कारण वह पीली हो गई है, जैसे मेघ के विरह के कारण ही पीली हो गई हो। कितना सौभाग्यशाली है मेघ जिसके विरह में उसकी प्रियतमा की ऐसी स्थिति है।

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिजीर्णपणैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्यं थेन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाघः ॥ 4 ॥

यक्ष ने अलकापुरी का नगरीय रूपान्तरण भी बहुत सुन्दर किया है। उसने मेघ की तुलना अंलकानगरी से की है। अलकानगरी के महलों में भी मेघ के विद्युत से दैदीप्यमान अर्थात् विद्युत से युक्त प्रासाद सुन्दर स्त्रियों से शोभायमान हो रहे हैं। अलकापुरी के भवन सुन्दर सुन्दर चित्रों से सुशोभित हो रहे है तथा महलों में सङ्गीत का सम्पादन करने के लिये मृदङ्ग बजाये जाते है। भवनों की फर्श मणियों से अलंकृत की गई है।

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत तैस्तैर्विशिषैः ॥ 5 ॥

अलकापुरी के महलों की छतों में श्वेतमणियाँ जड़ी हुई हैं। उन पर तारों का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि छते पुष्पों से सजी हुई है। अलकापुरी की आर्थिक स्वस्थ समृद्धि का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै -
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहायाः
बद्धालापा बहिरूपवनं कामिनों निर्विशन्ति ॥ 6 ॥

अलकानगरी में भवनों के भीतर अपार धनराशि वाले, अप्सरा रूपी प्रमुख गणिकाओं को साथ रखने वाले कामुक जन प्रतिदिन मधुर कंठ वाले कुबेर के यश का उच्च स्वर से गान करते हुए किन्नरों के साथ 'वैभ्राज' नामक बाह्य उद्यान का उपभोग करते हैं। महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण के बालकाण्ड के पञ्चम सर्ग में राजा दशरथ ने सुरक्षित अयोध्या का वर्णन करने के साथ ही साथ साहित्यशास्त्र के महाभारत में भी सभापर्व में नगर नियोजन के लिए बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में

जनपदनिवेश का बहुत ही रुचिकर वर्णन करते हुए कहा गया है कि

भूतपूर्वमभूतपूर्व वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वानिवेशयेत्॥ 7॥

राजा पुराने या नये देश बसाने के लिए अन्य देश के मनुष्यों को बुलाकर या अपने देश के प्रान्त को उलट-पलट कर देते थे। राजा को ग्राम बसाने के लिए मुख्य रूप से निर्देशित करने के लिए बताया गया है कि प्रत्येक ग्राम में शिल्पी और किसान ही अधिक बसाने चाहिए। एक ग्राम में सौ से कम और पाँच सौ से अधिक घर नहीं बसाने चाहिए। ये ग्राम एक दो-दो कोस की दूरी पर बसाना उचित होता है और समय पड़ने पर एक ग्राम दूसरे ग्राम की रक्षा कर सके इस तरह का उचित प्रबन्धन होना चाहिए। ग्राम की रचना के विषय में भी स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि राजा ग्राम की सीमा को आदि के गूलर नदी, पर्वत, वन, बेर के वृक्ष, खाई, सेतु (पुल) बन्ध, सेमल और शमी, बड़, से वृक्ष सुशोभित होना चाहिए। आठ सौ ग्रामों के मध्य में एक बड़ा नगर बनवाया जाए। चार सौ गाँवों के मध्य में एक द्रोण मुख (नगर) की स्थापना करे। दो सौ गाँवों के मध्य में कस्बे की रचना करना ही उचित होगा और दश गाँवों का संग्रह करके उनके मध्य में कर आदि के संग्रह करने को संग्रहण नामक स्थान की स्थापना की जाती है। इसके उपरान्त नवीन प्रदेश की जब स्थापना कर दी जाती है तो उसके संरक्षण के लिए प्रतिनिधियों का विधान निर्धारण करना भी आवश्यक होता है।

अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि॥
जनपदद्वाराव्यन्तपालाधिष्ठानि स्थापयेत्॥
तेषामन्तराणि वागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालारण्यचरा रक्षेयुः॥ 8॥

नवीन प्रदेश की सीमा पर राजा अन्तपाल नामक अध्यक्ष को नियुक्त करके दुर्ग की रचना की जाती थी। इस नवीन प्रदेश के द्वारों पर भी अन्तपाल नामक अध्यक्षों (अफसरों) को ही राजा द्वारा नियुक्त करना उचित था। इन स्थानों के मध्य भागों की रक्षा का भार, व्याध, शवर, पुलिन्द, चण्डाल तथा अन्य वनवासी पुरुषों के अधीन किया जाता था। राजा जब दुर्ग के निर्माण का नियोजन करता था तो उसे उस दुर्ग की सुरक्षा का भी पूरा ध्यान रखना होता था। राजा के द्वारा अपने देश के चारों ओर युद्ध के उपयोगी दैवकृत पर्वत आदि विकट स्थानों को ही दुर्ग के रूप में काम में लाया जाता था। दुर्ग भी सामान्यतः दो प्रकार के माने जाते हैं एक तो जो बड़े-बड़े पत्थरों से बना हुआ था कंदराओं से व्याप्त दुर्ग पर्वत दुर्ग होता है। जल और घास आदि से रहित या ऊपर प्रदेश में बना हुआ दुर्ग धान्वन दुर्ग होता है और चारों ओर दलदल से घिरा हुआ तथा काँटेदार झाड़ियों से व्याप्त दुर्ग वन दुर्ग कहलाता है। इन दुर्गों में नदी-दुर्ग और पर्वत दुर्ग देश की रक्षा के कारण होते हैं। धान्वन दुर्ग और वन दुर्ग वन में बनाये जाते है। जिससे विपत्ति के समय राजा भाग कर अपनी रक्षा कर सकते थे। पुराने समय से ही नियोजन के लिए वास्तुशास्त्र का प्रयोग किया जाता है।

वास्तुकप्रशस्ते देशे नदीसङ्गमे ह्रदस्य वा अविशोषस्याङ्के सरमस्तटाकस्य वा वृत्तं दीर्घं चतुश्रं
वा वास्तुकवशेन प्रदक्षिणोदकं पण्यपुटभेदनमंसवारि पथाभ्यामुपेतम्॥ 9॥

भवन निर्माण कला जानने वाले विद्वान के द्वारा जो स्थान बताया जाता था उसे ही श्रेष्ठता प्रदान की जाती थी। नदी के तट, नहीं सूखने वाले ह्रद के समीप, सरोवर या तालाब के किनारे पर वृत्त दीर्घ या चौकोर नगर बसाने उचित थे। वास्तुविधा के ढंग पर उन नगरों में दायीं ओर से नहर निकलवा देनी चाहिए। इधर-उधर उत्पन्न होने वाली वस्तुओं विक्रय के उपयोगी और जल तथा स्थल मार्ग से सुसम्पन्न नगर बनवाने योग्य होते हैं। नगरों के चारों ओर चार-चार हाथ की दूरी पर तीन खाई खुदवाई जाती है जो क्रमशः छप्पन, अड़तालीस और चालीस हाथ चौड़ी होनी चाहिए। इसी विस्तार से आधी या 4 तीन भाग या एक भाग न्यून से खाइयाँ गहरी बनवाई जाएँ। इनकी तलहरी पत्थर से साफ बनी हुई हो, जिसमें पत्थर जड़े हुए होने चाहिये। जड़े पत्थर या ईंटों से उसकी दीवार बनी रहे, जिनमें वर्षा का या नहर का पानी भरा रहे। इनमें से जल के निकलने की नहरें भी बनवायी जानी चाहिए। इन खाइयों में सुन्दर-सुन्दर कमल और भीषण मगरमच्छ रहें तो भी बड़ी अच्छी बात है।

चतुर्दण्डावकृष्टं परिखायाः षड्दण्डोच्छ्रितमवरुद्धं तद्विगुणविष्कम्भं खाताद् वज्रं कारयेद॥ 10॥

खाई से चार दण्ड की दूरी पर छः दण्ड (चौबीस हाथ) ऊँची सब ओर से दृढ़, ऊपर की चौड़ाई से दुगना नींव में आकार

वाला बड़ा प्राकार बनवाया जाना चाहिए। उर्ध्वचय, मञ्चपृष्ठ और कुम्मकुक्षिक इस प्रकार से तीन तरह का बड़ा प्राकार होता है। व उर्ध्वचय, जो मध्यम ऊँचा होता है वह मञ्चपृष्ठ और जो अत्यन्त पुष्ट बनाया जाता है, वह कुम्मकुक्षित कहलाता है। इन बड़े प्राकारों को बनाते समय हाथी, बैल आदि से अच्छी तरह खुदाई करवाई जाए। इसके चारों ओर काँटेदार विषैली झाड़ी लगी होनी चाहिए। बची हुई मिट्टी से जो प्राकार में छिद्र हों, उन्हें भरवा देना चाहिए। इस विशाल प्राकार पर एक छोटा ईंटों का प्राकार (भित्ति) बनवाएँ। जो अपनी चौड़ाई से दुगुना ऊँचा होना चाहिए। यह बारह हाथ से लेकर चौबीस हाथ सम-विषम किसी भी संख्या में बनवाया जा सकता है अर्थात् तेरह चौदह हाथ आदि की संख्या में चौबीस हाथ तक बनवाया जा सकता है। इस प्रकार का ऊपर इतना आकार हो कि उस पर एक रथ सीधी तरह चल सके। इसकी नींव तालवृक्ष की ऊँचाई के सदृश गहरी हो मृड्ग और वानर के शिर के तुल्य छोटे-बड़े पत्थरों से इसका अग्रभाग के बनवाना उचित है तथा मोटी-मोटी शिलाओं से उसका ऊर्ध्व भाग पर्वताकार में बना है। इस प्राकार में लकड़ी का कहीं भी उपयोग भी करना चाहिए, क्योंकि काष्ठ में सर्वदा अनि सन्निहित होती है। इस प्राकार की चौड़ाई के समान ही उस पर चौकोर एक अट्टालिका बनवाई जाए, जिसमें ऊपर तक पहुँचने वाली सीढ़ी हों। इन अट्टालिकाओं का तीस 403 अर्थात् एक सौ बीस हाथ का अन्तर होना चाहिए। दो अट्टालिकाओं के मध्य में अच्छे-अच्छे कमरों से युक्त, दो तल की ढाई याम चौड़ी प्रतोली (स्थान विशेष) बनाए। अट्टालिका और प्रतोली के मध्य में तीन धनुष चौड़ा एक इन्द्रकोश बनवाएँ, जिसमें एक ढका हुआ तख्ता लगा रहे और इसमें भी अनेक छिद्र होने चाहिए। इनमें बीच में दो हाथ चौड़ा और प्राकार के समीप आठ हाथ चौड़ा और आठ हाथ ही लम्बा एक गुप्त मार्ग बनवाया जाए। (एक दण्ड (चार हाथ) या दो दण्ड (आठ हाथ) के अन्तर पर उतरने चढ़ने की सीढ़ी सी बनी हो। जिस स्थान पर शत्रु की गोली न पहुँच सके। यहाँ प्रधावितिका (लुपने कास्थान) बनवाए और शत्रु के देखने को निष्कुहद्वार (छिद्र) भी रखें। खाई से बाहर शत्रु के घोटुओं को तोड़ देने वाले खूँटे, त्रिशूलों का समूह, ऊँचे नीचे विषम प्रदेश, लोह कण्टकों का ढेर, सर्प की अस्थियाँ, तालपत्र के समान लोह जाल, तीन-तीन नोक वाले लोहे के काँटे, कुत्ते के दाँत, बड़े-बड़े लट्ठे, दलदल से भरे पैर फँसा देने वाले गड्ढे, आग और दूषित जल से भरे हुए पृथक-पृथक स्थानों से इस दुर्ग के मार्ग को गुप्त रूप से ढँक दें। दुर्ग के प्राकार के दोनों ओर के डेढ़ दण्ड (छः हाथ) का एक मण्डप सा बनवाये जाए। उसमें प्रतोली स्थान के सदृश छः खम्भों का एक द्वार बनवाए। द्वार का विस्तार बीस हाथ से लेकर छः सात और आठ दण्ड तक का अर्थात् चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस हाथ का चौकोर द्वार बनवाएँ। दो दण्ड अर्थात् आठ हाथ का भी कोई-कोई विद्वान् द्वार बनवाने का मत प्रकट करते हैं अथवा चौड़ाई से छः गुना तथा अठगुना ऊँचा हार बनाया जा सकता है।

प्राकारमध्ये कृत्वा वापीं पुष्करिणीद्वारं, चतुश्शालमध्यर्थान्तरार्णाकं कुमारीपुरं, मुण्डहर्म्यं द्वितलं मुण्डकद्वारं, भूमिद्रव्यवंशेन वा।। 11।।

प्राकार के मध्य में ही बावड़ी बनवाकर उसका द्वार बनवाए। इसी का नाम पुष्करिणी शरण है। चार शालाओं के समीप इस द्वार से ड्योढ़ा एक द्वार बनवाया जाए, जिसका नाम कुमारी पुर है। मुण्डहर्म्य दो तल का बने और मुण्ठक द्वारा भूमि के प्रमाण के अनुसार देखकर बनवाया जाए। जिस भवन के ऊपर कंगूरे आदि न लगे हों वह मूण्डहर्म्य कहलाता है। तीन भाग में लंबी-चौड़ी वस्तु ले जाने की एक नहर या सुरंग बनवायी जानी चाहिए, जिससे युद्धोपयोगी सामान इकट्ठा कर सरलता से ले जाया जा सके।

अर्थात् प्राचीन समय से ही नियोजन की प्रक्रिया का विशेष महत्व है जो आज भी चला आ रहा है। इसी के द्वारा ही नगरों की प्रगति होती है और नगर विकासशील होते हैं। प्राचीन समय में जिस प्रकार राजा महाराजा अपने राज्य को समृद्ध व सुरक्षित करने के लिये नगर नियोजन की व्यवस्था को अपनाते थे तथा वास्तुशास्त्रों का प्रयोग करके उसकी संरचना करते थे जिससे कि नगर में किसी भी प्रकार की नकारात्मकता या अस्वस्थता न आ सके। उसी तरह आज भी नगरों का नियोजन किया जाता है जिससे इसकी समृद्धता को बढ़ाया जा सके और एक गौरबशाली नगर के रूप में वह गौरवान्वित हो सके। ■

संदर्भ सूची :

1. वाल्मीकि रा. 1/5/5 बालकाण्ड 2. वाल्मीकि रा. 1/5/23 3. पूर्वमेघ 17 4. पूर्वमेघ 30 5. उत्तरमेघ 1 6. उत्तरमेघ 10 7. कौटिल्य अर्थशास्त्र - 2/1/1
8. कौटिल्य अर्थशास्त्र. - 2/1/5-7 9. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/3/5 10. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/3/9 11. कौटिल्य अर्थशास्त्र - 2/3/39

लेखन सामग्री और प्राचीन भारत

• मनीष रत्नपारखी

लेखन सामग्री ने संस्कृतियों के विकास में बहुत प्रमुख भूमिका निभाई है। उन्होंने न केवल मानव जाति के इतिहास और संस्कृति को संरक्षित करने में मदद की है बल्कि लिपियों, भाषाओं के साथ-साथ मनुष्य के सोचने के तरीके को भी गहराई से प्रभावित किया है। आज कागज़ लेखन के लिए प्रयुक्त मुख्य सामग्री है, लेकिन इसकी उत्पत्ति भारत में नहीं हुई है। आधुनिक कागज एक चीनी आविष्कार है और 'पेपर' शब्द ग्रीक पपीरोस से आया है, जो लंबा पेपर-रीड पौधा है जो कभी मिस्र में बहुत आम था। हिन्दी शब्द कागज़ (कागज़) फ़ारसी मूल का है। कागज़ का प्रयोग लगभग एक हजार वर्षों से भारत में ही होता आ रहा है। उससे पहले हमारे देश में मुख्य लेखन सामग्री वृक्ष की छाल, ताड़ की पत्तियाँ और ताम्र-पत्र थे। इनके अलावा, अगरु-छाल, ईंटें, मिट्टी के बर्तन, शंख, हाथी दांत, कपड़ा, लकड़ी, आदि भी थे। भीमबैठका, पचमढ़ी, आदमगढ़, मिर्ज़ापुर और कई अन्य भारतीय स्थलों पर प्रागैतिहासिक शैलचित्र पाए गए हैं। यहाँ के ये चित्र अपने ज्वलंत और मनोरम विवरण में, गुफाओं में रहने वालों के दैनिक जीवन को दर्शाते हैं। ये चित्र, जिन्हें प्रारंभिक लेखन कहा जा सकता है। सचित्र लेखन, ज्यादातर लाल और सफेद रंग में और कभी-कभी हरे और पीले रंग में किया जाता है। रंग स्थानीय खनिजों से लिए गए थे और उन्हें पानी और कुछ स्थानीय पेड़ या जानवरों की चर्बी के स्थिर राल के साथ मिलाया गया था। उपयोग किए जाने वाले ब्रश टहनियों या बारीक काम के लिए कलमों से बनाए जाते थे। शैलचित्रों के साथ-साथ भीमबैठका और ऐसे कुछ अन्य स्थलों पर लघु ब्राह्मी शिलालेख भी पाए गए हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में हजारों वर्षों से लेखन सामग्री के रूप में पत्थर और प्राकृतिक रंगों का उपयोग किया जाता था। दूसरी तरफ यदि हम सिंधु शिलालेखों की बात करें तो वे आमतौर पर छोटे और लगभग चार हजार की संख्या में, विभिन्न वस्तुओं पर पाए गए हैं। जिनमें टेराकोटा तथा तांबे की गोलियाँ, कांस्य के उपकरण, हड्डी और हाथीदाँत की छड़ें, मिट्टी के बर्तन भित्तिचित्र, और विविध वस्तुएँ हैं। यह ज्ञात नहीं है कि सिन्धु लोग अपने सांसारिक कार्यों में या अपनी 'पुस्तकों' की रचना के लिए किस लेखन सामग्री का उपयोग करते थे।

सिंधु लोगों के समकालीन सुमेरियन और बेबीलोनियाई लोग अपनी कीलाकार लिपि के लिए मिट्टी की पट्टियों का उपयोग करते थे, जिसे विद्वान पढ़ने में सक्षम होते हैं। लेकिन, दुर्भाग्य से, सिंधु लिपि अभी भी अनिर्धारित है। वैदिक काल में लेखन-कला ज्ञात थी या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय रहा है। मैक्समूलर जैसे आरम्भिक प्राच्यविद्या पण्डितों का मत था कि वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में लिपि तथा लेखन सामग्री का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु इधर के वर्षों में वैदिक काल में लेखन के अस्तित्व के बारे में कई प्रमाण मिल चुके हैं। यह सही है कि वेदों को श्रुति (श्रवणीय रचना) कहा जाता है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण का वचन है कि वामदेव ऋषि ने ऋचा 'देखकर सम्पादन किया'। उसी तरह ऐतरेय ब्राह्मण का उल्लेख है कि ऋषि ने 'ऋचा देखकर पढ़ी'। ऋग्वेद में गाय के कान पर पहचान के लिए, अंक-संकेत दागने का उल्लेख है। इस तरह के कई उल्लेख वैदिक वाङ्मय में देखने को मिलते हैं। सारांश यह है कि उस समय श्रवणीय रचनाएँ लिखित रूप में भी उपलब्ध रही हैं और कई अन्य संदर्भ यह साबित करते हैं कि मौखिक परंपरा लिखित रूप में भी उपलब्ध थी। हालाँकि, यह सच है कि उन दिनों शिक्षण मौखिक था और पांडुलिपियों से अध्ययन को सीखने की उचित विधि नहीं माना जाता था। बौद्ध जातकों में लेखन कला के अनेक उल्लेख मिलते हैं। पाणिनि (लगभग 500 ईसा पूर्व) ने अपनी अष्टाध्यायी में ग्रंथ (पुस्तक), लिपिकारा (लेखक) और यवनानी लिपि (ग्रीक लिपि) का उल्लेख किया है। कई बार वह पाठक से अपनी रचना के अन्य नियमों को 'देखने' के लिए कहता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि पाणिनि का यह व्याकरणिक कार्य पांडुलिपि के रूप में उपलब्ध था। लेकिन उन दिनों प्रयुक्त लेखन सामग्री के बारे में हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं है। प्राचीन भारत में उपयोग में आने वाली प्रमुख लेखन सामग्री पत्थर थी। पत्थर पर उत्कीर्णन, जैसा कि सम्राट अशोक स्वयं व्यक्त करते हैं, "ऐसे हैं जो लंबे समय तक बने रहेंगे"। इस तरह की नक्काशी चट्टानों, स्लैबों, चिकने या खुरदुरे खंभों, छवियों, ताबूतों, फूलदानों आदि पर की जाती थी। पत्थर की स्लैबों या स्तंभों पर अनुदान-कर्म, शाही स्तुति, उद्घोषणाएँ, व्यक्तियों या राजाओं के बीच समझौते अंकित किए जाते थे और साहित्यिक कृतियों के साथ भी। उदाहरण के लिए, धारा (मालवा) के विद्वान-राजा भोज द्वारा प्राकृत में एक काव्य कृति "कूर्मशतक" पत्थर की पट्टियों पर उत्कीर्ण है। उत्कीर्णन या उत्कीर्णन से पहले, पत्थर को छैनी से तैयार किया जाता था और चिकनी सतह वाले दूसरे पत्थर से रगड़कर पॉलिश किया जाता था। खुरदुरी सतह पर उत्कीर्णन असामान्य नहीं था। फिर अक्षरों को पत्थर की सतह पर स्याही या चाक के टुकड़े से लिखा जाता था या ब्रश से चित्रित किया जाता था। अंत में, उत्कीर्णक ने अक्षरों को स्याही या चित्रित भाग पर उकेरा। लिखने के दौरान किसी भी क्षति को तुरंत किसी चिपचिपे पदार्थ से भर दिया जाता था। पत्थर के खंभों पर शिलालेख लगाना बहुत पुरानी परंपरा है। सम्राट अशोक (272-232 ईसा पूर्व) ने अपने शिलालेख चट्टानों और पत्थर के खंभों पर भी खुदवाये थे। चुनार उत्तर प्रदेश से उत्खनित बलुआ पत्थर से बने,स्तंभ अखंड और अत्यधिक पॉलिश किए हुए हैं। कुछ खंभे 15 मीटर ऊँचे हैं और उनका वजन लगभग 50 टन है। ये अशोक स्तंभ दिल्ली, इलाहाबाद, लुंबिनी और कई अन्य स्थलों पर देखे जा सकते हैं। स्तंभ अन्य प्रकार के भी होते हैं। ध्वजस्तंभ, जिस पर अक्सर एक शिलालेख होता था, एक मंदिर के प्रांगण में बनाया गया था। जयस्तंभ पर एक विजयी राजा की स्तुति अंकित थी। कीर्तिस्तंभ का निर्माण किसी पवित्र कार्य की स्मृति में किया गया था। वीरस्तंभ को एक योद्धा की याद में बनाया गया था जो दुश्मन से लड़ते हुए मर गया था। यज्ञ स्तंभ। जिसे युपस्तंभ कहा जाता है । पर भी शिलालेख हैं। ईंटें, सोना, चाँदी, लकड़ी आदि। विभिन्न स्थानों से बड़ी संख्या में खुदी हुई ईंटें प्राप्त हुई हैं और पुरातत्व संग्रहालयों में संरक्षित हैं। कुछ खुदी हुई ईंटें विभिन्न राजाओं द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञों से संबंधित हैं। अधिकांश आरंभिक उत्कीर्ण ईंटों पर बौद्ध सूत्र अंकित हैं, इन अक्षरों को पकाने से पहले नम मिट्टी पर खुरच कर बनाया गया था। नालन्दा तथा कई अन्य प्राचीन स्थलों से उत्कीर्ण मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई हैं। कुछ उत्कीर्ण हाथी दाँत की पट्टियों और शंखों के नमूने खोजे गए हैं। बहुमूल्य धातुओं, सोने और चाँदी का उपयोग किया गया है। पात्रों के साथ उत्कीर्णन और ढलाई। बौद्ध जातकों में अक्सर शाही पत्रों और अनुदान- कार्यों को रिकॉर्ड करने के लिए सोने की प्लेटों के उपयोग का उल्लेख किया गया है। कान्हा जातक में कहा गया है, "उसने (कान्हा कुमार) अपने हाथ में एक सोने की थाली ली और उस सुनहरी थाली पर पिछले दिनों के अपने रिश्तेदारों द्वारा खुदी हुई पंक्तियों को पढ़ते हुए कहा, 'इतनी सारी

संपत्ति इसने अर्जित की, इतनी सारी संपत्ति इसने अर्जित की।" दूसरा,' उसने सोचा..."। तक्षशिला के पास एक स्तूप में खरोष्ठी शिलालेख वाली एक सोने की प्लेट मिली है। इसी तरह, चाँदी पर भी कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनमें से एक भट्टिप्रोलू के बौद्ध स्तूप से है। इसके अलावा बड़ी संख्या में सोने और चांदी से बने सिक्कों पर भी शिलालेख हैं।

प्राचीन भारत में लिखने के लिए फलका नामक लकड़ी के बोर्ड का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था। इस पर अक्षर स्याही या चाक (पांडु-लेखा) से लिखे जाते थे। फलक का उपयोग छात्र अक्षर लिखना सीखने और प्रारंभिक गणना करने के लिए भी करते थे। बाद में पाटी शब्द एक लकड़ी के बोर्ड का प्रतिनिधित्व करने लगा और पाटीगनिटा शब्द, यानी पाटी पर की गई गणना, प्रयोग में आया। मध्य एशियाई विद्वान अल्बरूनी लिखते हैं, "वे (हिंदू) स्कूलों में बच्चों के लिए काली गोलियों का उपयोग करते हैं और उन पर चौड़ी तरफ नहीं, बल्कि लंबी तरफ लिखते हैं, बाईं ओर से दाईं ओर सफेद सामग्री से लिखते हैं"। गणितीय गणना को धूलि-कर्म भी कहा जाता था। क्योंकि आकृतियाँ लकड़ी के तख्ते या जमीन पर फैली धूल पर लिखी जाती थीं। धूल की परत पर लिखने के लिए हाथ की उँगली या सरकंडे के टुकड़े का उपयोग किया जाता था। कपड़ा: सूती कपड़ा (जिसे करपसिका-पाटा या संस्कृत में केवल पाटा कहा जाता है) का उपयोग प्राचीन भारत में लेखन सामग्री के रूप में भी किया जाता था। अलेक्जेंडर के बेड़े के एक एडमिरल, नियरचोस (लगभग 326 ईसा पूर्व) ने उल्लेख किया है कि भारतीयों ने अच्छी तरह से पीटे हुए सूती कपड़े पर पत्र लिखे थे। लिखने के लिए कपड़ा तैयार किया जाता था,उस पर गेहूँ या चावल के गूदे की एक पतली परत चढ़ाकर और उसे सूखने के बाद शंख या चिकने पत्थर से पॉलिश किया जाता था। पाटा पर काली स्याही से लिखा जाता था। राजस्थान में, पंचांग और राशिफल कपड़े के कागज पर तैयार किये जाते थे। केरल में हाल तक व्यापारियों द्वारा स्थायी प्रकृति के खातों के रखरखाव के लिए कपड़े का उपयोग किया जाता था। कर्नाटक में पिछली शताब्दी तक कदितम के नाम से जाना जाने वाला प्रसंस्कृत कपड़ा उपयोग में था। इसे इमली के बीज के पेस्ट से ढँक दिया गया और बाद में चारकोल-पाउडर से काला कर दिया गया। इस काले कपड़े पर लिखने के लिए चॉक या स्टीटाइट पेंसिल का उपयोग किया जाता था। कभी-कभी लिखने के लिए रेशमी कपड़े का भी प्रयोग किया जाता था। अल्बरूनी लिखते हैं, "मुझे बताया गया है कि रेशम पर लिखी गई इस शाही परिवार (काबुल के शाहिया) की वंशावली नगरकोट के किले में मौजूद है, और मैं खुद को इससे परिचित कराना चाहता था, लेकिन यह असंभव था कई कारण"।

जब मिस्र से पपीरस प्राप्त करना मुश्किल हो गया, तो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में यूनानियों ने लिखने के माध्यम के रूप में चर्मपत्र, एक तैयार लेकिन बिना दाग वाली पशु की खाल, विकसित की। प्रारंभिक और मध्ययुगीन काल में यह पश्चिमी एशिया और यूरोप में आमतौर पर इस्तेमाल की जाने वाली लेखन सामग्री थी।

भारत में, जानवरों की खाल को अशुद्ध माना जाता है, इसलिए अक्सर लिखने के लिए इसका उपयोग नहीं किया जाता है। हालाँकि, कुछ बौद्ध ग्रंथों में, लेखन सामग्री में त्वचा का उल्लेख किया गया है। प्राचीन भारत में हस्तलिपियों के लिए विभिन्न प्रकार की स्याही का उपयोग होता था। मगर सबसे ज़्यादा उपयोग काली स्याही का ही होता था, जिसे संस्कृत में 'मसि' या 'मषी' कहा जाता था। यह बहुत पुराना शब्द है और एक गृह्यसूत्र में देखने को मिलता है। कवि बाण, (लगभग 620 ई.) और उनके पूर्ववर्ती सुबंधु की कृति वासवदत्ता में भी यह देखने को मिलता है। 'मसी कज्जलम्' शब्दों से सहज स्पष्ट है कि, प्रमुखतः काजल से ही स्याही तैयार की जाती थी। सुबंधु के वासवदत्ता (लगभग 600 ई.) के एक अंश से यह अनुमान लगाना संभव है कि लिखने के लिए त्वचा (संस्कृत में अजिना) का उपयोग किया जाता था। इस विषय पर अल्बरूनी लिखता है, "हिंदुओं को खाल पर लिखने की आदत नहीं है। "प्राचीन काल में यूनानी"। लेकिन मुस्लिम काल के दौरान चार्बा नामक एक बहुत पतले चर्मपत्र का उपयोग नकल, चित्रण आदि के लिए किया जाता था। धातुओं में लोहे पर केवल कुछ शिलालेख खोजे गए हैं, उनमें से सबसे प्रसिद्ध लौह स्तंभ पर है। महरौली, दिल्ली के पास पांचवीं शताब्दी ईस्वी के गुप्त ब्राह्मी अक्षरों में लिखे इस संस्कृत शिलालेख में

छह पंक्तियाँ हैं और इसमें एक राजा का उल्लेख है जिसका नाम 'चंद्र' है। गढ़वाल के गोपेश्वर मंदिर के प्रांगण में पाँच मीटर ऊँचा लोहे का त्रिशूल है जिस पर सातवीं शताब्दी का संस्कृत शिलालेख खुदा हुआ है। धातुओं की सभी किस्मों में से, ताँबा सबसे अधिक इस्तेमाल किया जाता था। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में लिखने के लिए सामग्री। ताम्रपत्रों को ताम्रपत्र, ताम्रपत्र या ताम्रशासन के नाम से जाना जाता था। फ़ाहियान (लगभग 400 ई.) ने बुद्ध के समय के बौद्ध मठों में ताम्रपत्रों के अस्तित्व का विवरण दर्ज किया है। एक अन्य चीनी तीर्थयात्री युआन च्वांग (629-45 ई.) का दावा है कि राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म की पवित्र पुस्तकों को तांबे की प्लेटों पर उत्कीर्ण करवाया था। सबसे प्रारंभिक ताँबे की प्लेटों में से एक सहगौरा प्लेट, मौर्य काल की है। ताम्र-प्लेटें तैयार करने में दो विधियाँ अपनाई गईं: हथौड़े से मारकर, और फिर उत्कीर्णन करके, रेत के साँचे में ढालकर। अधिकांश ताँबे की प्लेटों को हथौड़े से बनाया गया है आवश्यक आकार और सामग्री को स्याही से लिखा जाता था, और फिर ताम्रकार अक्षरों को छैनी से उकेरते थे। कभी-कभी अक्षरों को बिंदीदार रेखाओं के रूप में एक पंच द्वारा अंकित किया जाता था। ताम्र-प्लेट तैयार करने की दूसरी विधि इसे रेत के एक साँचे में ढालना था, जिसमें अक्षरों और प्रतीकों को पहले एक लकड़ी के नुकीले टुकड़े से खरोंच दिया जाता था।

सोहगौर का ताम्रपत्र सबसे पुराना ज्ञात ताम्रपत्र है जो रेत के एक साँचे में ढाला गया है। जब दस्तावेज़ लंबा होता था, तो एक से अधिक प्लेटों का उपयोग किया जाता थ। लेखन की सुरक्षा के लिए, प्लेटों के किनारों को आमतौर पर मोटा और थोड़ा ऊपर उठाया जाता था। पहली प्लेट का पहला भाग और अंतिम प्लेट का अंतिम भाग खाली छोड़ दिया जाता था। आमतौर पर किसी डिक्री या अनुदान में प्लेटों की संख्या दो से नौ तक होती है। ताड़-पत्र: जब तक भारत में ग्यारहवीं शताब्दी में कागज का आगमन नहीं हुआ, तब तक ताड़-पत्र लेखन उद्देश्यों के लिए उपयोग की जाने वाली सबसे महत्वपूर्ण सामग्रियों में से एक थी। ताड़ का पेड़ । जो पांडुलिपियों के लिए ताड़ के पत्ते देता है । दो प्रकार का होता है- श्रीताला या तालिपोट ताड़ (कोरिफा अम्बराकुलिफेरा) और खरताला या ताड़ या पाल्मायरा ताड़ (बोरासस फ्लेबेलिफॉर्मिस)। पहले वाले पत्ते लंबे, चिकने और कोमल होते हैं। ताड़ की यह प्रजाति मालाबार तट, बंगाल, म्यांमार और सीलोन में बहुतायत से उगती है। दूसरी ओर, खरताला या ताड़ की पत्तियाँ मोटी होती हैं और उनमें बहुत आसानी से टूटने की प्रवृत्ति होती है। श्रीताला की पत्तियों के रेशे करतला की पत्तियों की तुलना में क्षय के प्रति अधिक प्रतिरोधी होते हैं। इन्हीं कारणों से पाण्डुलिपियों को लिखने के लिए खरातल के पत्तों की अपेक्षा श्रीतल के पत्तों को प्राथमिकता दी गई है। ताड़ के पत्तों को लिखने के लिए तैयार करने के लिए पहले उन्हें सुखाया जाता था,पानी में उबाला जाता था और फिर दोबारा सुखाया जाता था। फिर उन्हें पत्थर या शंख से चिकना और पॉलिश किया जाता था। फिर पत्तियों को आकार में काटा गया, जो लंबाई 15 सेमी से 1 मीटर और चौड़ाई 2 से 10 सेमी तक होती है। दक्षिण भारत में ताड़ के पत्ते पर अक्षरों को उकेरने के लिए एक नुकीले स्टिलस का उपयोग किया जाता था और फिर उकेरे गए अक्षरों में दीपक-काला या कुछ रंग का रंग रगड़ा जाता था। दूसरी विधि, जो अधिकतर उत्तर भारत में अपनाई जाती है, कलम और स्याही का उपयोग करना था। ताड़-पत्रों को बाँधा नहीं जा सकता था। पत्तों में एक या दो छेद किये गये और फिर उनमें रस्सियाँ पिरोयी गयीं। पांडुलिपियाँ आम तौर पर दो लकड़ी के तख्तों के बीच रखी जाती थीं और छेदों से गुजरने वाली रस्सी को तख्तों के चारों ओर लपेटा जाता था। गर्म और आर्द्र जलवायु में ताड़-पत्तियों को बहुत लंबे समय तक संरक्षित नहीं किया जा सकता है। इसलिए, पहले भारतीय मूल की ताड़ पत्र पर अंकित पांडुलिपियाँ नेपाल, तिब्बत तथा मध्य एशिया से प्राप्त हुई हैं। युआन च्वांग के जीवन में एक संदर्भ के अनुसार, बौद्ध सिद्धांत बुद्ध के निधन के तुरंत बाद आयोजित पहली परिषद में ताड़ के पत्तों पर लिखा गया था। सबसे पुरानी ताड़ के पत्ते की पांडुलिपि चीन के सिकियांग में पाई गई थी।

छठी शताब्दी ईस्वी की एक पुरानी संस्कृत ताड़-पत्र पांडुलिपि जापान के होरिउज़ी मंदिर में संरक्षित है। काठमांडू में दरबार लाइब्रेरी में कई ताड़ के पत्तों वाले पांडुलिपियाँ संरक्षित हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन (1894-1963) ने तिब्बत में बड़ी

संख्या में ताड़ के पत्तों वाली पांडुलिपियों की खोज की है। दसवीं और बाद की शताब्दियों के असंख्य ताड़-पत्तों पर लिखी गई पांडुलिपियाँ नेपाल, राजस्थान और गुजरात से प्राप्त किए हुई हैं। बर्च-छाल:प्राचीन भारत में लेखन उद्देश्यों के लिए एक बहुत लोकप्रिय सामग्री बिर्च-छाल थी, जिसे संस्कृत में भुर्जा-पत्र कहा जाता था। बिर्च हिमालय में लगभग दस हजार फीट की ऊँचाई पर उगने वाला मध्यम आकार का पेड़ है। इस पेड़ की भीतरी छाल का उपयोग लिखने के लिए किया जाता था। जिसे कालिदास ने 'भूर्जत्वक्' कहा है, काग़ज़ की तरह होती है। यह छाल कई मीटर लम्बी निकल आती है। अल्बरूनी ने लिखा है- "मध्य और उत्तरी भारत के लोग तूज़ (भूर्ज) वृक्ष की छाल पर लिखते हैं। उसको भूर्ज कहते हैं। सिकंदर के समय के यूनानी लेखक क्यू. कर्टियस ने लेखन सामग्री के उद्देश्य की पूर्ति के लिए पेड़ों की कोमल आंतरिक छाल का उल्लेख किया है। कालिदास ने अपने कुमारसंभव में भूर्ज-त्वक, भुर्ज-छाल का उल्लेख किया है। अल्बरूनी का कथन है कि भारत में लोग लिखने के लिए एक प्रकार की भुर्जे की छाल का प्रयोग करते हैं तुज वृक्ष. उन्होंने भुर्जा-पत्र तैयार करने की विधि भी दर्ज की है: "वे एक गज लंबा और हाथ की फैली हुई उँगलियों के बराबर या कुछ हद तक चौड़ा एक टुकड़ा लेते हैं और इसे विभिन्न तरीकों से तैयार करते हैं। वे इसे तेल और पॉलिश करते हैं ताकि इसे सख्त और चिकना बनाएँ, और फिर वे इस पर लिखें। एकल पत्तों का उचित क्रम संख्याओं द्वारा चिह्नित किया गया है। पूरी किताब को कपड़े के एक टुकड़े में लपेटा गया है और एक ही आकार की दो गोलियों के बीच बाँधा गया है। ऐसी किताब है पुथी कहा जाता है।" बिर्च-छाल की पत्तियों पर ईख की कलम और विशेष रूप से तैयार स्याही से लिखा जाता था। अधिकांश भूर्ज-छाल कश्मीर और उड़ीसा से प्राप्त किए गए हैं। सबसे पुराना भुर्ज खरोष्ठी लिपि में धम्मपद है। खोतान (सिकियांग) से और दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व की है। बिर्च- छाल गिलगित, मध्य एशिया और अफगानिस्तान के कुछ स्तूपों से भी प्राप्त किया गया है। बक्शाली एमएस गणित से संबंधित है और नवनीतम चिकित्सा से संबंधित है, दोनों ही भुर्ज-छाल पर लिखे गए हैं और चौथी शताब्दी ईस्वी से संबंधित हैं। अगरु-छाल: अगरु पेड़ की छाल, जिसे असमिया में साँचीपता कहा जाता है, का उत्तर-पूर्व भारत में लेखन और चित्रांकन के लिए बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है। अगरु-छाल को लिखने के लिए तैयार करना एक श्रमसाध्य प्रक्रिया है। फिर भी बड़ी संख्या में संचपति पांडुलिपियाँ पाई गई हैं। उनमें से बहुत सारी विदेशी संग्रहों में हैं। नरकुल या लकड़ी से बनी क़लम और रेशों से बनी कूची को 'लेखनी' कहते थे। जी. ब्यूह्लर अपनी पुस्तक 'भारतीय लिपिशास्त्र' में लिखते हैं- "लिखने के लिए प्रयुक्त होने वाले उपकरण का सामान्य नाम 'लेखनी' था। 'लेखनी' का प्रयोग शलाका, तूलिका, वर्णवर्तिका और वर्णिका, सभी के लिए होता था। 'लेखनी' शब्द महाकाव्यों में उपलब्ध है।" नरकुल या नरसल से बनी लेखनी को आमतौर पर क़लम कहते थे, मगर इस शब्द की व्युपत्ति स्पष्ट नहीं है। क़लम के लिए देशी संस्कृत नाम 'इषीका' या 'ईषिका' था, जिसका शब्दार्थ है, नरकुल। नरकुल, बाँस या लकड़ी के टुकड़ों को हमारी आज की (यानी आज से क़रीब सौ साल पहले की) क़लमों की तरह बनाकर उनसे लिखने की सारे भारत में प्रथा रही है। ताड़पत्र और भुर्जपत्र पर लिखी गई सारी उपलब्ध हस्तलिपियाँ इसी तरह की क़लमों से लिखी गई हैं। ■

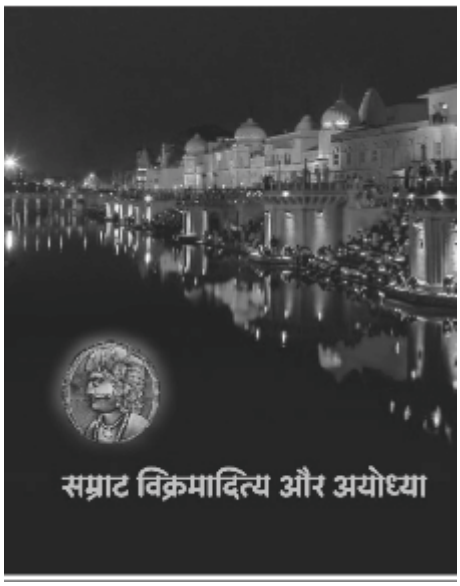

उज्जयिनी से अयोध्या तक विक्रमादित्य की गौरवशाली परंपरा

समीक्षक - रितु मिश्र

पुस्तक -सम्राट विक्रमादित्य और अयोध्या, लेखक- राजेश्वर त्रिवेदी, प्रकाशक- महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन

अयोध्या और उसकी महिमा का बखान अनेक पौराणिक व ऐतिहासिक ग्रन्थों से लेकर इतिहास की किताबों में हमेशा से ही मौजूद रहा है। अयोध्या न सिर्फ हिंदुओं का एक पवित्रतम तीर्थ है वरन् जैन, बौद्धों के लिए भी उतना ही पावन और श्रद्धा का केंद्र रहा है।

वेद में अयोध्या को ईश्वर का नगर बताया गया है, "अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" और इसकी सम्पन्नता की तुलना स्वर्ग से की गई है। अथर्ववेद में यौगिक प्रतीक के रूप में अयोध्या का उल्लेख है-

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।तथ

तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्ववेद -- 10.2.31)

स्कन्दपुराण के अनुसार सरयू के तट पर दिव्य शोभा से युक्त दूसरी अमरावती के समान अयोध्या नगरी है। मानव सभ्यता की पहली पुरी होने का पौराणिक गौरव अयोध्या को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। यह उस तेजधारी राजवंश का निवास स्थान था जो सूर्यदेव से उत्पन्न हुआ और जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का अवतार हुआ। अयोध्या को भगवान श्रीराम के पूर्वज

विवस्वान (सूर्य) के पुत्र वैवस्वत मनु ने बसाया था, तभी से इस नगरी पर सूर्यवंशी राजाओं का राज महाभारत काल तक रहा। यहीं पर प्रभु श्रीराम का दशरथ के महल में जन्म हुआ था। महर्षि वाल्मीकि ने भी रामायण में जन्मभूमि की शोभा एवं महत्ता की तुलना दूसरे इन्द्रलोक से की है। विगत सदी के 1932 में लाला सीताराम ने गहन शोध कर वेद काल से लेकर ब्रिटिश काल के अयोध्या का इतिहास लिखा था। कालांतर में अनेक पुस्तकें अयोध्या और उसके गौरवशाली अतीत को लेकर आती रही हैं। उज्जैन के सम्राट विक्रमादित्य का अयोध्या से गहरा संबंध रहा है। ऐसे अनेक पुरातात्विक प्रमाण मिलते हैं। विगत दिनों विक्रमादित्य शोध पीठ उज्जैन द्वारा प्रकाशित पुस्तक "सम्राट विक्रमादित्य और अयोध्या" विक्रमादित्य द्वारा अयोध्या में अनेक मंदिरों के निर्माण की गाथा और विक्रमादित्य के अयोध्या से जुड़े प्रसंगों का उल्लेख करती है। धन-धान्य व रत्नों से भरी हुई अयोध्या नगरी की अतुलनीय छटा एवं गगनचुंबी इमारतों के अयोध्या नगरी में होने का वर्णन भी वाल्मीकि रामायण में मिलता है। इतिहासकारों के अनुसार कौशल प्रदेश की प्राचीन राजधानी अवध को कालांतर में अयोध्या और बौद्धकाल में साकेत कहा जाने लगा। अयोध्या मूल रूप से मंदिरों का शहर था। हालांकि यहां आज भी हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म से जुड़े मंदिरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। सम्राट विक्रमादित्य भारतवर्ष के अतीत के सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय पुरुष हैं। भारतवर्ष के महाकाव्यों में रामायण और महाभारत के महान् नायकों-राम और कृष्ण के अतिरिक्त कोई भी दूसरा व्यक्ति विक्रमादित्य के समान जन-साधारण में समाहत और स्मृत नहीं है। विदेशी आक्रमण के विरोध में उनके द्वारा देश की स्वाधीनता की रक्षा, उनकी सैनिक एवं राजनीतिक उपलब्धियाँ, उनका आदर्श शासन, उनका अनुपम न्याय- विवेक तथा साहित्य एवं कला के प्रश्रय में उनकी उदार हृदयता ने उनके नाम को अमर बनाकर देश के जनमानस में प्रतिष्ठित कर दिया है। उज्जयिनी के सम्राट विक्रमादित्य ने लगभग सम्पूर्ण एशिया को जीत लिया था।" उस समय उनका साम्राज्य आधुनिक चीन, मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया के कुछ भाग तक फैला हुआ था जो कि अभी तक के इतिहास का सबसे बड़ा साम्राज्य है। सम्राट विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया था। उनके पराक्रम को देखकर ही उन्हें महान सम्राट कहा गया और उनके नाम की उपाधि कुल चौदह भारतीय राजाओं को दी गई। "विक्रमादित्य" की उपाधि भारतीय इतिहास में बाद के कई अन्य राजाओं ने प्राप्त की। भारत की प्राचीन नगरी उज्जयिनी के सम्राट विक्रमादित्य भारत के गौरव, उत्कर्ष, धर्म, त्याग, वैभव और ज्ञान के प्रतीक हैं। प्रबन्धकोश के अनुसार अपने राज्य को राम राज्य बनाने की अभिलाषा में सम्राट विक्रमादित्य ने अपने राज्य में स्थान स्थान पर अनेक मंदिर बनवाए थे और राम के चरण पादुका के अन्वेषण में उन्होंने अयोध्या में उत्खनन करवाया था। उजाड़ अयोध्या का पता लगाना कठिन था और जब विक्रमादित्य ने इसका जीर्णोद्धार करना चाहा तो उसकी सीमा निश्चित करना दुस्तर हो गया। लोग इतना ही जानते थे कि यह नगर कहीं सरयू-तट पर बसा हुआ था और उसका स्थान निश्चय करने में विक्रमादित्य का मुख्य सूचक नागेश्वरनाथ का मन्दिर था जिसका उल्लेख प्राचीन पुस्तकों में मिला। सम्राट विक्रमादित्य के साथ कई पौराणिक कथाएँ भी जोड़ दी गयी हैं, किन्तु यहां इतना ही उल्लेखित करना पर्याप्त है कि उसके द्वारा ही यहां एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया गया। ईसा से लगभग एक सदी पहले का यह प्रसंग है। कहते हैं कि भगवान श्रीराम के जल समाधि लेने के पश्चात अयोध्या कुछ काल के लिए उजाड़ हो गई थी, लेकिन उनकी जन्मभूमि पर बना महल वैसे का वैसा ही था। भगवान श्रीराम के पुत्र कुश ने एक बार पुन: राजधानी अयोध्या का पुनर्निर्माण कराया। इस निर्माण के बाद सूर्यवंश की अगली चौंवालीस पीढ़ियों तक इसका अस्तित्व आखिरी राजा, महाराजा बृहद्बल तक अपने चरम पर रहा। कौशलराज बृहद्बल की मृत्यु महाभारत युद्ध में अभिमन्यु के हाथों हुई थी। महाभारत के युद्ध के बाद अयोध्या उजाड़-सी हो गई, मगर श्रीराम जन्मभूमि का अस्तित्व फिर भी बना रहा। विक्रमादित्य के बाद के राजाओं ने समय-समय पर इस मंदिर की देख-रेख की। उन्हीं में से एक शुंग वंश के प्रथम शासक पुष्यमित्र शुंग ने भी मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया था। पुष्यमित्र का एक शिलालेख अयोध्या से प्राप्त हुआ था जिसमें उसे सेनापति कहा गया है तथा उसके द्वारा दो अश्वमेध यज्ञों के किए जाने का वर्णन है। अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय और तत्पश्चात काफी समय तक अयोध्या गुप्त साम्राज्य की राजधानी थी। गुप्तकालीन महाकवि कालिदास ने अयोध्या का रघुवंश में कई बार उल्लेख किया है।

बाबर के सेनापति मीर बांकी ने 1528 में जिस मंदिर को ध्वस्त किया था और जिस पर अब भव्य राम मंदिर का पुनर्निर्माण हो रहा है। उसको सम्राट विक्रमादित्य ने ही निर्मित करवाया था। साथ ही अयोध्या में दो सौ चालीस नए मंदिरों का तथा साठ प्राचीन मंदिरों के निर्माण का श्रेय भी महाराजा विक्रमादित्य को जाता है। दरअसल, यह कोई कपोल कल्पित बात नहीं है, बल्कि सर्वोच्च न्यायालय में दी गई तथ्यात्मक दलील का भाग है जिसे न्यायालय द्वारा मान्यता दी गई है। इसका विस्तार से उल्लेख गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'अयोध्या दर्शन' में भी मिलता है। यह मंदिर काल के कई रूपों को बर्दाश्त करता हुआ अपने स्थान पर अडिग और अचल खड़ा है।' महाराज विक्रमादित्य ने जब अयोध्या की पुनः खोज की तो सबसे पहले इसी स्थान का पता लगा।अयोध्या का प्राचीन इतिहास बतलाता है कि वर्तमान अयोध्या सम्राट विक्रमादित्य की बसायी हुई है। महाराज विक्रमादित्य देशाटन करते हुए संयोगवश यहाँ सरयूकिनारे पहुँचे थे और यहाँ उनकी सेना ने शिविर डाला था। उस समय यहाँ वन था। कोई प्राचीन तीर्थ-चिह्न यहाँ नहीं था। महाराज विक्रमादित्य को इस भूमि में कुछ चमत्कार दीख पड़ा। उन्होंने खोज प्रारम्भ की और पास के योगसिद्ध संतों की कृपा से उन्हें ज्ञात हुआ कि यह श्री अवध की भूमि है। उन संतों के निर्देश से सम्राट ने यहाँ भगवल्लीला-स्थली को जानकर मन्दिर, सरोवर, कूप आदि बनवाये। मथुरा के समान अयोध्या भी आक्रमणकारियों का बार-बार आखेट होती रही है। बार-बार आततायियों ने इस पावन पुरी को ध्वस्त किया। इस प्रकार अब अयोध्या में प्राचीनता के नाम पर केवल भूमि और सरयू बच रही हैं। अवश्य ही भगवतलीला-स्थली के स्थान वे ही हैं। एक अन्य मान्यता के अनुसार महाराजा विक्रमादित्य को विशेष रूप से सनातन धर्म को दुनिया में फैलाने के लिए एक दिव्य साधन के रूप में चुना गया था। उनका जन्म कलियुग की शुरुआत के तीन हजार साल बाद हुआ था। वह एक महान राजा थे जो अपनी वीरता, विद्वतापूर्ण उत्कृष्टता और विद्वानों के संरक्षण के लिए जाने जाते थे। स्थानीय पारंपरिक मान्यता के अनुसार - कहा जाता है कि भगवान श्री राम सम्राट विक्रमादित्य के सपने में प्रकट हुए थे और उन्हें अयोध्या को फिर से खोजने और उसका पुनर्निर्माण करने का निर्देश दिया था। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने उन्हें अयोध्या के गौरवशाली समृद्ध अतीत को दिखाया और महाराजा विक्रमादित्य को इसे बनाने का निर्देश दिया जैसा कि यह हुआ करता था। सम्राट विक्रमादित्य भगवान राम के दिव्य निर्देश का पालन करते हुए प्रयागराज (तीर्थों के राजा) से इस प्राचीन शहर का स्थान पूछते हैं। हालाँकि, अपनी यात्रा के दौरान, वह स्थान भूल गया और एक ऋषि से उसे स्थान पर निर्देशित करने का अनुरोध किया। ऋषि ने उसे सलाह दी कि वह एक गाय और एक बछड़े को खुला छोड़ दे और उसे घूमने दे। फिर उन्होंने कहा कि अयोध्या पहुंचने पर गाय के थन से दूध निकलना शुरू हो जाएगा, और यही सटीक स्थान भगवान राम की प्राचीन राजधानी अयोध्या का स्थान होगा। यह इस दिशा के अनुसार है कि महाराजा विक्रमादित्य पहली बार अयोध्या में नागेश्वरनाथ मंदिर में आए थे, जबकि अयोध्या शहर के बाकी हिस्सों को जंगल से ढँका हुआ और खंडहर में गिरा हुआ बताया गया था। कहा जाता है कि महाराजा विक्रमादित्य ने अयोध्या में अन्य महत्वपूर्ण पवित्र स्थानों के साथ इस मंदिर का आध्यात्मिक रूप से कायाकल्प किया था।

इस महान पावन पुरी को पुनर्निमिर्त कर भगवान श्री राम के प्रति सम्राट विक्रमादित्य ने अपनी श्रद्धा और आस्था को प्रकट किया। उज्जयिनी के महाकाल से अयोध्या तक विक्रमादित्य ने भारतीय सनातनता और भागवत धर्म को प्रतिष्ठित किया है। विक्रमादित्य शोधपीठ की अयोध्या पर केंद्रित पुस्तक सम्राट विक्रमादित्य और अयोध्या भारतीय सनातन गौरव और उज्जयिनी के सम्राट विक्रमादित्य के महान कार्यों तथा अतीत की अयोध्या के बहुतेरे प्रसंगों को बखूबी उल्लेखित करती है। ■

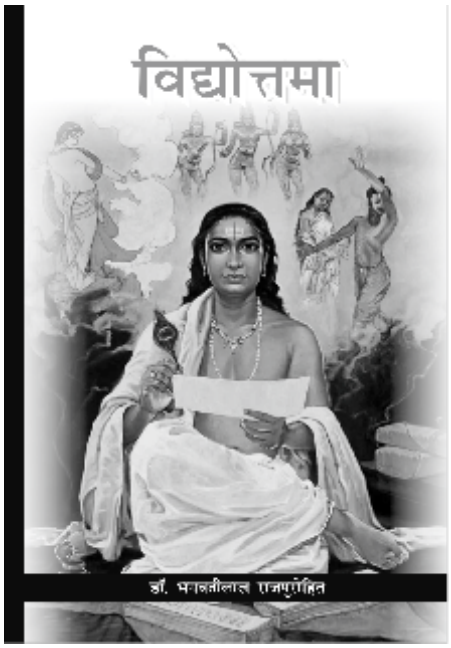

गाथा एक विदुषी विद्योत्तमा की

समीक्षक - मिथिलेश यादव

पुस्तक-विद्योत्तमा, लेखक- डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, प्रकाशक-महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन

औपन्यासिक कृति "विद्योत्तमा" की रचना डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित द्वारा आज से कोई 40 वर्ष पहले विक्रमी 2042 (ई. 1973) में की गयी थी।

तब निश्चय ही विक्रमादित्य को लेकर, कालिदास को लेकर और उनके जीवन कथाक्रम को लेकर भारी घटाटोप छाया हुआ था। विक्रमादित्य पर बातें करना अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक सा ही माना जाता था। संतोष की बात है कि आज 2080 विक्रमी में घटाटोप इतना नहीं है। विक्रमादित्य, विक्रम सम्वत् कालिदास, वररुचि, अमरसिंह, वराहमिहिर आदि को लेकर बहुत सारी प्रामाणिक जानकारी अब हमारे सामने है और सामने आती जा रही है। बहुत से लोगों की श्रम और साधना इसकी बुनियाद में है। विद्योत्तमा राजा शारदानंद की पुत्री थी। वह गुणवती, विदुषी और सुंदर थी। उसके रूप, गुण और ज्ञान की प्रशंसा दूर-दूर तक फैली हुई थी। उसे अपने रूप, गुण और ज्ञान का बहुत घमंड़ था। उसने घोषणा की थी की जो व्यक्ति उसे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा, उसी के साथ वह विवाह करेगी। दूर दूर से आए विद्वान उससे हार गए तो उन विद्वानों के मन में ग्लानि उत्पन्न हो गई। इसका राजकुमारी से बदला लेने के लिए उन्होंने एक चाल चली और मूर्ख युवक की खोज प्रारंभ की। तब एक जंगल में उन्हें एक झाड़ की शाखा पर बैठा एक युवक नजर आया जो उसी शाखा को काट रहा था। विद्वानों ने उस युवक जो कि कालिदास था उसे सिखा पढ़ाया और कहा कि तू मौन में ही उत्तर देना। उन्होंने उससे कहा यदि तुम मौन रह सकोगे तो तुम्हारा विवाह एक सुंदर राजकुमारी से हो जाएगा। इसके बाद कालिदास को सुंदर वस्त्र पहनाकर उसे विद्वान के रूप में राजमहल में शास्त्रार्त के लिए प्रस्तुत कर दिया और विद्योत्तमा से कहा गया कि युवक मौन साधना में रत होने के कारण संकेतों में शास्त्रार्थ करेगा। विद्योत्तमा मान गई और शास्त्रार्थ

शुरू हुआ। विद्योत्तमा ने अंगुली उठाई। उसका तात्पर्य था, 'ईश्वर एक है और वह अद्वैत है।' कालिदास ने समझा कि यह मेरी आँख फोड़ना चाहती है तो उसने भी तक्षण दो अंगुली उठा। अर्थात् तुम तो एक आंख फोड़ने की बात कर रही हो, मैं तुम्हारी दोनों आँखें फोड़ दूंगा। पंडितों ने कालिदास की ओर से राजकुमारी को समझाया कि 'ईश्वर एक है। आपने ठीक कहा, पर प्रकृति और विश्व के रूप में वही अन्य रूप धारण करता है। अतः पुरुष और प्रकृति, परमात्मा और आत्मा दो-दो शाश्वत हैं। विद्योत्तमा इससे प्रभावित हुई और फिर विद्योत्तमा ने हथेली उठाई। पाँचों अँगुलियाँ ऊपर की ओर उठी थीं। उनका तात्पर्य था, 'आप जिस प्रकृति, जगत् जीव या माया के रूप में द्वैतवाद को स्थापित कर रहे हैं, उसकी रचना पंचत्तत्व से होती है। ये पंचतत्त्व हैं- पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि और आकाश। ये सभी तत्त्व भिन्न और अलग हैं, इनसे सृष्टि कैसे हो सकती है? कालिदास ने समझा की यह राजकुमारी मुझे थप्पड़ मारना चाहती है। इसीलिए कालिदास ने थप्पड़ के जवाब में मुक्का दिखा दिया। विद्वानों ने राजकुमारी को बताया कि इनके कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक पंचतत्त्व अलग-अलग रहेंगे, सृष्टि नहीं होगी। पंचतत्त्व करतल की पंचांगुलि है। सृष्टि तो मुष्टिवत् है। मुट्ठी में सभी मिल जाते हैं तो सृष्टि हो जाती है। यह सुनकर सभा-मंडप की दर्शक दीर्घा से फिर तालियाँ बजने लगी। विद्योत्तमा को अंततः अपनी हार माननी पड़ी और उसने कालिदास से विवाह कर लिया। उपरोक्त कहानी के अलावा यह भी कहा जाता है कि जब पत्नी को यह पता चला तो उन्होंने कालिदास को संस्कृत की शिक्षा दी। व्याकरण, छंद शास्त्र, निरुक्त ज्योतिष और छहों वेदांग, षड्दर्शन आदि सभी की शिक्षा पूर्ण करने के बाद कालिदास राजा विक्रमादित्य के दरबार में उनके नवरत्न में से एक बन गए। बकौल लेखक "विद्योत्तमा न इतिहास है और न केवल कल्पना। अनुश्रुति, इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण से यह रचना सम्भव हो सकी है। मुख्य आधार अनुश्रुतियाँ, तद्युगीन वातावरण प्रस्तुत करने में इतिहास तथा इन सबको एक सूत्र में ग्रंथित करने में कल्पना सहयोगिनी रही है। अनुश्रुतियों की पुष्टि इतिहास नहीं करता, परन्तु कालिदास के साहित्य से ज्ञात तथ्यों की पुष्टि तो वह युग करता ही है। विद्योत्तमा के सम्बन्ध में अनुश्रुतियाँ भी अत्यन्त सीमित हैं। शोधगत तथ्यों तथा अनुश्रुतियों को एक साथ प्रस्तुत करने में अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। तथापि प्रबुद्ध पाठकों को अनुश्रुतियों के मध्य भी मूलगत तथ्य सहज प्राप्त हो जायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है । विद्योत्तमा के कई नाम प्राप्त होते हैं - विद्युल्लता, विद्वत्तमा, वासंती, प्रियंगुमंजरी, भारती इत्यादि । यथास्थान इन सभी नामों का इसमें उपयोग हुआ है। अन्य पात्र या तो कालिदास - साहित्य से लिये गये हैं अथवा इतिहास से । काल्पनिक नाम वे ही हैं जो अत्यन्त गौण हैं। विभिन्न कारणों से यह रचना सृजन के वर्षों बाद अब प्रकाशित हो पायी है।"

कालिदास की विद्योत्तमा पत्नी 'विद्योत्तमा' को प्रमुख पात्र बना कर यह उपन्यास लिखा गया है। इसमें कालिदास के अवसानन्त के बाद का सर्वथा काल्पनिक कथानक सविस्तार वर्णित है। विद्योत्तमा तथा उसकी सहेली - दासी 'प्रियंवदा' के साथ हुए संवादों और देवगिरि ग्राम के साथी ग्रामीण द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों या टिप्पणियों के द्वारा कालिदास की जीवन- कहानी टुकड़ों-टुकड़ों में उद्घाटित करते हुए प्रस्तुत की गई है। जैसा कि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है, अनुश्रुतियों आदि की विभिन्न कड़ियों को एक सूत्र में ग्रंथित कर उस कहानी के कथानक को परिपूर्ण बनाने में लेखक ने कल्पना का ही सहारा लिया है। इस प्रकार प्रस्तुत कथानक में कहीं कोई विसंगतियाँ नहीं रह गई है। प्रत्युत वह बहुत ही रोचक बन गया है, जिससे इस सारे उपन्यास के कथानक में पाठक की अभिरुचि प्रारम्भ में ही जाग्रत कर उसके अन्त तक उसके कुतूहल को यथावत् बनाए रखा है। इतिहासकार "रघुवीर सिंह" जी ने इस पुस्तक की भूमिका लिखते हुए बड़े ही विस्तार से इसके कथा शिल्प व प्रसंगों का उल्लेख किया है। वह कहते हैं "उपन्यास के कथा शिल्प में लेखक का रचना कौशल प्रस्फुटित होता है, जिससे उसमें कहीं भी शिथिलता नहीं आती है।

इस 'विद्योत्तमा' उपन्यास में कालिदास विषयक कथानक का सारा ताना-बाना आदि बुनने हेतु लेखक ने तत्सम्बन्धी अपनी ही मान्यताओं का सहारा लिया है।

देवगिरि ग्राम में जन्मे अनपढ़ युवा कालिदास उर्फ 'कालू' का विवाह उज्जैन के सुविख्यात राजा विक्रम की सुपुत्री विद्योत्तमा से करवा कर लेखक ने विक्रम संवत् के प्रवर्तक शकारि राजा विक्रम विषयक अपनी मान्यता तथा कालिदास के उसी के नवरत्नों में होने सम्बन्धी प्राचीन अनुश्रुति को अपने इस कथानक का महत्वपूर्ण सुदृढ़ आधार बनाया है। पुनः पूर्वकाल से ही यह मान्यता रही है कि कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के केवल प्रारंभिक आठ सर्ग ही लिखे थे। कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में कालिदास ने शिव-पार्वती की काम-क्रीड़ा का वर्णन किया है एवं अनुश्रुतियों के अनुसार राजा विक्रम के आग्रह पर भी कवि ने जब इस आठवें सर्ग को अपने महाकाव्य से नहीं हटाया तब उसे निर्वासित करने का आदेश दिया गया। परन्तु अब तक महाकवि अपनी लंका यात्रा पर निकल गये थे, जहाँ से वह स्वयं नहीं लौटे, प्रत्युत लंका में विष द्वारा उनकी अपघात मृत्यु के हृदय विदारक समाचार ही पहुँचे। अतः यद्यपि इन पिछले सर्गों की पुष्पिकाओं में रचयिता के रूप में कालिदास का नाम मिलता है, परन्तु वस्तुतः 'कुमारसम्भव' के बाद उसके इन पूरक नौ (9–17 सर्गों) की रचना कालिदास ने नहीं बल्कि किसी अन्य सुकवि ने कालिदास की मृत्यु के उपरान्त की थी। उन पिछले नौ सर्गों के रचयिता कवि का नाम अब तक सुनिश्चितरूपेण कहीं भी नहीं सुझाया गया है। परन्तु डॉ. राजपुरोहित ने अपने इस उपन्यास में 'कुमारसम्भव' के इन पूरक नौ सर्गों की रचना का श्रेय महाकवि की पत्नी राजा विक्रम की विद्वत्तमा महापंडिता सुकन्या विद्योत्तमा को देकर उसे विशिष्ट गौरव प्रदान किया है। यों उपन्यासकार ने काव्य रचना संसार में भी उसे वस्तुतः महाकवि की अर्द्धांगिनी के रूप में प्रस्थापित कर दिया है। पुनः कुमारसम्भव के इस अष्टम सर्ग की रचना के औचित्य - समर्थन में कालिदास के मुख से जो बात कहलाई है, वह उस महाकवि की अनुपमता के सर्वथा अनुरूप ही है।" विद्योत्तमा को भी उसकी रचना और प्रकाशन के समय 'मनोरंजन' का साधन और अधिक समझा गया था, पर आज जिन रचनाओं ने और जिन रचनाकारों ने पुरातन इतिहास को लेकर कुहरा हटाने का काम किया है, उनमें डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित और उनकी इस औपन्यासिक कृति विद्योत्तमा की भी भूमिका है। 40 बरस पहले प्रकाशित कृति से एक बार भी साक्षात्कार हो सके इस दृष्टि से इसे पुनः प्रकाशित किया गया है। निश्चित ही गंभीर पाठक इस कृति का स्वागत करेंगे। ■

विक्रमादित्य, उनके युग और भारत विद्या पर केंद्रित बहुविध पुस्तकमाला

ISSN 2348-7720

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन